ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कल्याण

वर्ष ५४] * * * [संख्या ३

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०५, मार्च १९८०

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]

भगवती अन्नपूर्णा
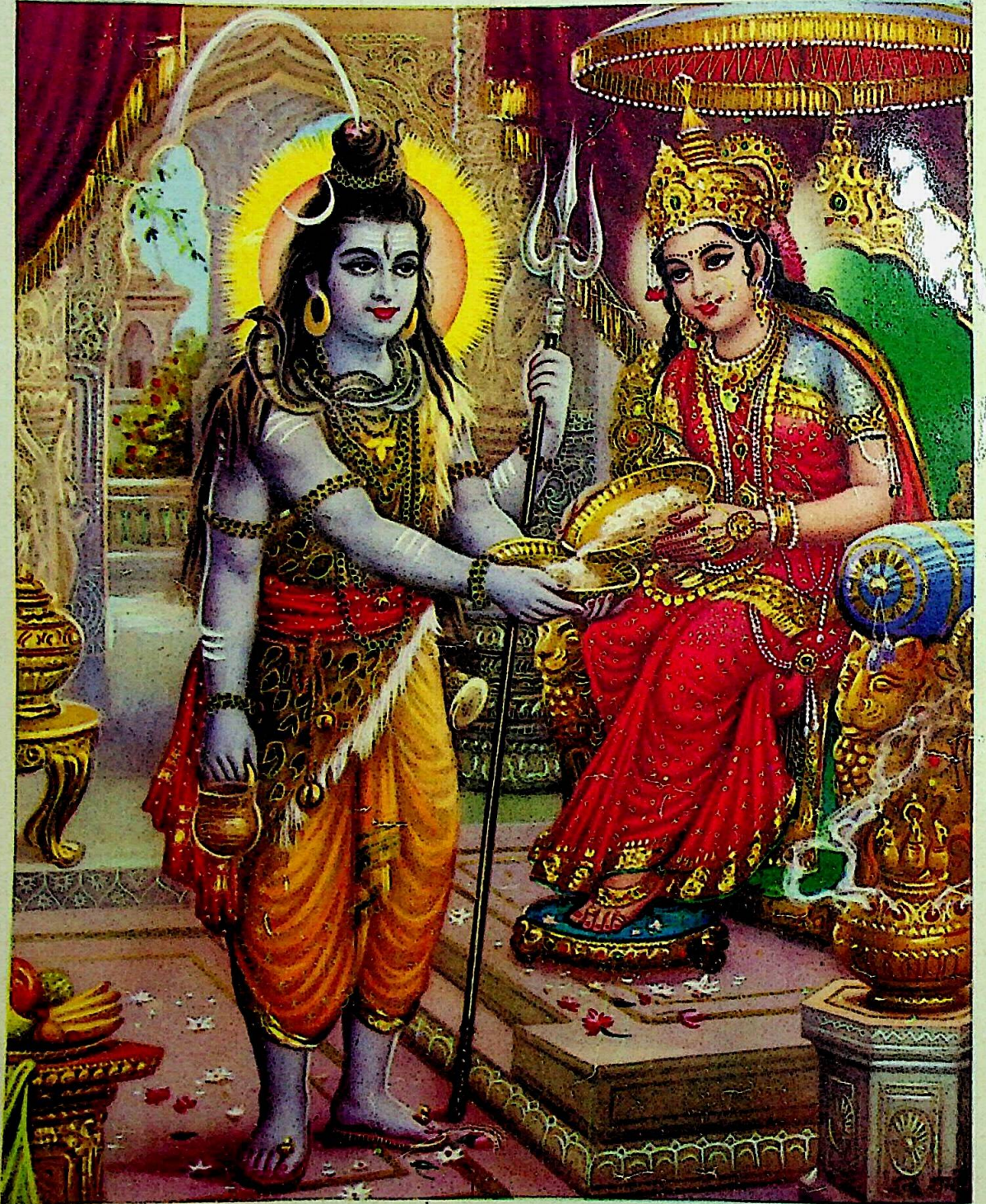
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता २ । ७१)

वर्ष ५४ } गोरखपुर, सौर चैत्र, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०५, मार्च १९८० { संख्या ३
पूर्ण संख्या ६४०

अन्नपूर्णा जननी जय !

जय भव-भामिनि जय भव-तोषिणि जय जग-पोषिणि जननी जय।
जय मधुमालिनि जय जग-पालिनि वैभवशालिनि जननी जय॥
जय सुख-दायिनि वाञ्छित-दायिनि, मङ्गलदायिनि जननी जय।
जय अघ-नाशिनि विघ्न-विनाशिनि अन्नपूर्णा जननी जय॥

—भाईजी (पदरत्नाकर ८८२)

कल्याण-वाणी

जबतक किसी वस्तुका मनमें महत्त्व है, जबतक उसकी ओर देखकर मन ललचाता है, जबतक किसीके पास अमुक वस्तु है इसलिये उसे सौभाग्यवान् तथा ईश्वरका कृपापात्र समझा जाता है, जबतक उस वस्तुका अपने पास न होना अभाग्यका चिह्न माना जाता है, जबतक उसकी आवश्यकताका अनुभव होता रहता है और उसके प्राप्त होनेपर अभाव तथा कष्टका नाश एवं सुख-सुविधाकी प्राप्ति होगी, ऐसी धारणा रहती है, तबतक मनुष्य उसकी कामनासे कभी मुक्त नहीं हो सकता। उसमें निष्कामभाव नहीं आ सकता।

'निष्काम' शब्दके रटने मात्रसे तुम निष्काम नहीं हो सकते। निष्कामभाव मनमें आता है और वह तभी आयेगा जब तुम जिस वस्तुकी कामना करते हो, उस वस्तुमें वस्तुतः तुम्हारी दुःख-दोष-बुद्धि, मलिन-बुद्धि,—'वह तुम्हारे लिये हानिकारक है, तुम्हारे यथार्थ सुख-सुविधामें बाधक है, ऐसी बुद्धि—और उसमें असत्-बुद्धि हो जायगी।

कामनाका त्याग मनसे हुआ करता है, वाणीसे नहीं। सत्यकी कल्याणमयी सुन्दर प्रतिष्ठा मनमें ही हुआ करती है। अतएव तुम यदि जीवनमें निष्कामभाव लाना चाहते हो तो काम्य-वस्तुओंमें अनित्यता, मलिनता, दुःखरूपता और विनाशिताको देखो। भगवान्के बिना जितने भी भोग हैं—सब दुःख हैं, भयानक दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं—यह अनुभव करो। फिर उनकी ओर मनका प्रवाह अपने-आप ही रुक जायगा। (काम्य वस्तुओंकी रमणीयता आपाततः है—ऊपर-ऊपरसे है। वास्तवमें उनमें परिहरणीयता ही है।)

तुम्हारे मनका जो यह विश्वास है, तुम्हारी बुद्धिका जो यह निश्चय है कि भोगोंमें सुख है—चाहे यह विश्वास और यह निश्चय वाणीसे फूट न निकलता हो, पर तुम्हें भोगोंमें लगाये बिना नहीं रह सकता। तुम हजार निष्काम-शब्दकी रटना करो, निष्कामके महत्त्वका गुणगान करो, किंतु तुम सुखके लिये भोगोंका होना अनिवार्य समझोगे। तुम्हारा अन्तर्हृदय भोगोंके लिये छटपटाता रहेगा। तुम ऊपरसे चाहे जितना भी हँसो—तुम्हारा अन्तर भोगोंके अभावमें रोता-कल्पता रहेगा। यही तो भोगकामना है। इसके रहते तुम निष्काम कैसे बनोगे? (भोग्यका त्याग होनेपर योग्य आनन्दकी प्राप्ति होती है। 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' की ऐसी ही दिशा है।)

भोग पदार्थोंमें सुख-बुद्धि, आवश्यकता-बुद्धि, आदर-बुद्धि जबतक रहेगी, तबतक भोगोंके प्रति, जिनके पास भोग-पदार्थ अधिक हैं, उनके प्रति तथा जिन साधनोंसे भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति सुगम समझी जाती है, उन साधनोंके प्रति तुम्हारे मनमें सम्मान और प्रीतिका भाव होगा ही। तुम स्वयं उस सम्मान तथा प्रेमको प्राप्त करना चाहोगे और उसीमें अपना गौरव तथा सौभाग्य समझोगे। जिनके पास भोग-पदार्थ नहीं हैं या अपेक्षाकृत कम हैं, उनकी तुम उपेक्षा करोगे। इसलिये तुम स्वयं भी इस अभाग्य, इस सम्मान तथा प्रेमके अभाव और लोगोंकी उपेक्षासे डरोगे। जबतक इस प्रकारकी मनोवृत्ति रहेगी, तबतक कामनाके कठिन चंगुलसे तुम नहीं छूट सकोगे।

सुख-शान्ति वस्तुओंमें नहीं है, वह मनकी निष्काम-स्थितिमें ही है। जब तुम्हारा मन कामना और स्पृहासे रहित हो जायगा, जब तुम्हारी ममताकी बेड़ी कट जायगी एवं जब तुम्हारा अहंकार भगवान्के दिव्य चरणकमल-युगलमें समर्पित होकर धन्य हो जायगा, तभी तुम सच्ची शान्ति पा सकोगे और तभी तुम्हें यथार्थ सुखका शुभ साक्षात्कार होगा। (वास्तविक सुख, सच्चा आनन्द चाहते हो तो मनसे निष्काम बनो। कर्त्तव्य-कर्मोंमें लगे रहो, पर फलमें मनकी आसक्ति न रखो। फिर कल्याण-ही-कल्याण है।) —'शिव'

कर्मयोगकी सुगमता

[प्रश्नोत्तर-रूपमें]

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन)

शङ्का—बहुत-से भाई कहते हैं कि 'गीतामें श्रीभगवान्‌ने कर्मयोगकी प्रशंसा की है और ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको सुगम बतलाया है । इतना ही नहीं; बल्कि यहाँतक कहा है कि कर्मयोगके बिना ज्ञानयोगका सफल होना कठिन है ।' (गीता ५ । ६) किंतु यह सुगमता समझमें नहीं आती । न तो वर्तमान कालमें ऐसे कर्मयोगी हैं और न उनके द्वारा किया हुआ कर्मयोगका आचरण ही देखनेमें आता है; क्योंकि कर्मोंमें फल और आसक्तिके त्यागका नाम कर्मयोग है, किंतु फल और आसक्तिका त्याग करके कर्म किस प्रकारसे होते हैं, इस बातको समझानेवाला या करके दिखलानेवाला ऐसा कोई नहीं दीखता जिसको आदर्श मानकर हमलोग कर्मयोगके पथपर चल सकें । अतएव हम यह जानना चाहते हैं कि वास्तवमें बात क्या है ? गीतामें जो कर्मयोग बतलाया है और जिसे सुगम कहा है, उसका सम्पादन तो बहुत ही कठिन प्रतीत होता है । यह कर्मयोग कथनमात्र है या सम्पादनयोग्य है ? यदि सम्पादनके योग्य वास्तविक साधन हो तो उसके जाननेवाले और करनेवाले होने चाहिये और यदि कोई भी जाननेवाला और करनेवाला नहीं, तो फिर यह सुगम साधन कैसे है ?'

समाधान—ज्ञानयोगका प्रकरण अति गहन-दुर्विज्ञेय और अतिसूक्ष्म है; इससे सबके लिये उसका करना तो दूर रहा, समझना भी कठिन है । इसलिये उसकी अपेक्षा कर्मयोगका साधन सुगम बतलाया गया है; क्योंकि जबतक अन्तःकरण मलिन है तबतक देहाभिमान है और देहाभिमानीसे ज्ञानयोगका साधन बनना अत्यन्त दुष्कर है । आसक्ति और स्वार्थत्यागरूप कर्मयोगका सम्पादन करनेसे जब अन्तःकरण पवित्र होता है, तब उसमें ज्ञानयोगके सम्पादनकी योग्यता आती है, परंतु कर्मयोगमें ऐसी बात नहीं है । कर्मयोगके साधनका आरम्भ तो देहाभिमानके रहते हुए ही अन्तःकरणकी मलिन अवस्थामें भी हो सकता है और उसके द्वारा पवित्र हुई बुद्धिमें भगवत्कृपासे स्वाभाविक ही स्थिरता होकर और भगवद्भावका उदय होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है । यही इसकी ज्ञानयोगकी अपेक्षा सुगमता और विशेषता है । इसलिये भगवान्‌ने गीतामें अध्याय ५, श्लोक २में कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया है—'**कर्मयोगो विशिष्यते ।**'

श्रीभगवान्‌ने आसक्ति और फल दोनोंके त्यागको कर्मयोग बतलाया है (गीता २ । ४८, १८ । ९), कहीं सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंमें केवल आसक्तिके त्यागको कर्मयोग कहा है (६ । ४) और कहीं केवल सर्वकर्मफलके त्याग (१८ । ११) या कर्मफल न चाहनेको (६ । १) ही कर्मयोग कहा है, वास्तवमें इनमें सिद्धान्ततः कोई भेद नहीं है । फल और आसक्ति दोनोंके त्यागका नाम ही कर्मयोग है । इसलिये दोनोंके त्यागको कर्मयोग कहना तो ठीक है ही, जहाँ कर्मों और पदार्थोंमें केवल आसक्तिका त्याग कहा है वहाँ भी ऐसी ही बात है । कञ्चन, कामिनी, देह, मान-बड़ाई आदि पदार्थोंमें आसक्तिका त्याग होनेसे उन पदार्थोंके प्राप्त करनेकी इच्छाका यानी फलका त्याग स्वतः ही हो जाता है; क्योंकि फलकी इच्छाके उत्पन्न होनेमें आसक्ति ही प्रधान कारण है । कारणके त्यागमें कार्यका त्याग स्वतः ही हो जाता है । इसलिये पदार्थोंमें आसक्तिके त्यागसे फलका त्याग स्वतः हो जानेके कारण पदार्थोंमें आसक्ति न होनेको कर्मयोग कहना युक्तिसंगत ही है । अब रही केवल सर्वकर्म-

फलके त्यागकी या कर्मफल न चाहनेकी बात, सो कर्म आसक्तिफलके त्यागसे आसक्तिका त्याग हो जाता है और आसक्ति-त्यागसे कर्मफलका त्याग हो जाता है, अर्थात् एकके त्यागसे दूसरेका त्याग स्वभावतः हो जाता है। इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्तिकी इच्छाका त्याग ही फलकी इच्छाका त्याग है; इसीको स्वार्थ-त्याग कह सकते हैं। इस स्वार्थत्यागरूप धर्मके सेवनसे समस्त अनर्थोंकी मूलहेतु आसक्तिका शनैः-शनैः त्याग हो जाता है; इसलिये फलके त्यागसे स्वतः ही आसक्तिका त्याग हो जानेके कारण सर्वकर्मफलके त्याग या कर्मफल न चाहनेको कर्मयोग बतलाना भी युक्तिसंगत है।

यदि कोई कहे कि 'जब सर्वकर्मफलके त्याग या कर्मफलके न चाहनेको ही कर्मयोग कहते हैं, तब फिर श्रीभगवान्ने जगह-जगह कर्मफलके त्यागके साथ ही जो आसक्तिके त्यागकी बात कही है, उसकी क्या आवश्यकता है?' इसका उत्तर यह है कि कर्मफलके त्यागसे आसक्तिका त्याग होकर ही कर्मयोगकी सिद्धि होती है और आसक्तिका त्याग हुए विना सर्वथा स्वार्थ-त्यागपूर्वक कर्म हो नहीं सकते। अतएव स्वार्थके त्यागसे आसक्तिका त्याग उसके अन्तर्गत ही समझ लेना चाहिये। असलमें दोनोंका त्याग ही कर्मयोग है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये 'आसक्तिसहित कर्मफलका त्याग ही कर्मयोग है' भगवान्का यह कथन युक्तियुक्त ही है।

प्रायः संसारके सभी मनुष्य मोहरूपी मदिराको पीकर उन्मत्त-से हो रहे हैं। उनमें कोई-सा ही समझदार पुरुष आत्माके कल्याणके लिये प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवालोंमें भी कोई बिरला ही पुरुष उस परमात्माको पाता है (गीता ७। ३)। ऐसी परमात्माकी प्राप्तिरूप अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषोंसे हमारी भेंट होनी भी दुर्लभ ही है। भेंट होनेपर श्रद्धाकी कमीसे हम उन्हें पहचान नहीं सकते। इसलिये वर्तमान कालमें ऐसे परमात्माको प्राप्त हुए योगी और ऐसे योगियोंद्वारा किये हुए आचरण यदि देखनेमें नहीं आते तो इसमें क्या आश्चर्य है?

भगवान्ने स्वयं भी गीता-(४। २)में कहा है कि यह कर्मयोग बहुत कालसे नष्ट हो गया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि उस कालमें भी इस योगको समझनेवाले बहुत लोग नहीं थे और इस समय भी बहुत नहीं हैं; क्योंकि सारे भूत-प्राणी राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे संसारमें मोहित हो रहे हैं। इसलिये परमात्माके बतलाये हुए इस कल्याणमय कर्मयोगके रहस्यको नहीं जानते। जिन पुरुषोंका स्वार्थत्यागरूप कर्मद्वारा पाप नष्ट हो गया है, वही पुरुष इस कर्मयोगके रहस्यको जानते हैं।

वस्तुतः आजकल परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषोंका अभाव है—ऐसा नहीं कहा जा सकता, परंतु श्रद्धाकी कमीके कारण हमें उनका दर्शन और परिचय प्राप्त नहीं होता है। ऐसी अवस्थामें जब कर्मयोगका आचरण करके बतलानेवाला हमें कोई नहीं दीखता तो कल्याणकी इच्छावाले पुरुषको भगवान्के बतलाये हुए उपदेशोंको ही आदर्श मानकर तदनुसार आचरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। (गीता तो हमें मार्ग-दर्शन कराती ही है।)

गीतामें बतलाया हुआ कर्मयोग कथनमात्र नहीं है, सम्पादन करने योग्य है; किंतु उसके सम्पादनका तत्त्व न जानने तथा शरीर और संसारके पदार्थोंमें आसक्ति होने एवं श्रद्धाकी कमी होनेके कारण ही वह कठिन प्रतीत होता है, वास्तवमें कठिन नहीं है। भगवान्के कहे हुए वचनोंमें विश्वास करके उनके आज्ञानुसार स्वार्थके त्यागपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करते रहनेसे आसक्तिका नाश और कर्मयोगके तत्त्वका ज्ञान होता चला जाता है। इस प्रकार करते हुए जब आसक्तिका नाश और कर्मयोगके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है, तब कर्मयोगका सम्पादन कठिन प्रतीत नहीं होता, कर्मयोगका साधन सरल हो जाता है।

कर्मोंमें सब प्रकारके फलकी इच्छाके त्यागका नाम ही स्वार्थत्याग है। स्वार्थत्यागयुक्त कर्मोंसे राग-द्वेषादि दुर्गुणोंका एवं राग-द्वेषादिसे होनेवाले दुराचारोंका नाश हो जाता है। अतएव मनुष्यको उचित है कि भगवान्के शरण होकर स्वार्थत्यागयुक्त कर्मोंका सम्पादन करे। किंतु इस बातपर विशेष ध्यान देना चाहिये कि कर्मोंमें स्वार्थत्याग किसका नाम है। हम मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी भी शास्त्रविहित कर्मका अनुष्ठान करते हैं और उसका फल स्त्री, धन, पुत्र तथा शरीरका आराम आदि नहीं चाहते, इतने मात्रसे ही स्वार्थका त्याग नहीं समझा जाता। इन सबका त्याग तो मनुष्य मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये भी कर सकता है। अतएव इन सबके त्यागके साथ-साथ मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका एवं स्वर्गादिके भोगकी इच्छाका भी सर्वथा त्याग करके उस त्यागके अभिमानका भी त्याग होनेसे सर्वथा स्वार्थत्याग समझा जाता है। (त्यागका अभिमान त्याज्य वस्तुसे भी बढ़कर त्याज्य है।)

हमलोग जितने कर्म करते हैं, उनमें सर्वप्रथम यही भाव मनमें उत्पन्न होता है कि इससे हमको क्या लाभ होगा। स्वाभाविक ही इस प्रकार हमारी बुद्धि स्वार्थकी ओर चली जाती है। अतएव क्रियाके आरम्भके समय जब स्वार्थबुद्धि उत्पन्न हो तभी उसको बाधित कर देना चाहिये। हम जिसको लाभ समझते हैं, वह सांसारिक लाभ वास्तवमें लाभ ही नहीं है। लाभ वही है जो वास्तविक हो और जिसका कभी अभाव न हो। ऐसा वास्तविक लाभ सांसारिक लाभोंके त्यागसे प्राप्त होता है, अतएव क्रियाके आरम्भके समय व्यक्तिगत भौतिक स्वार्थकी जो इच्छा उत्पन्न हो उसको अनर्थका मूल समझकर तुरंत उसका त्याग कर देना चाहिये।

हमलोगोंमें भौतिक स्वार्थकी मात्रा इतनी बढ़ गयी है कि हम अपने असली स्वार्थको तो समझ ही नहीं पाते। इसके लिये हमें पद-पदपर परमेश्वरका स्मरण करके उनसे प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे हम सदा सावधान रह सकें और अपना असली स्वार्थ वस्तुतः किस बातमें है—इसको समझकर अनर्थकारी भौतिक स्वार्थोंसे बच सकें।

जिन पुरुषोंने भगवान्के गुण, प्रभाव और तत्त्वको समझकर भगवान्की शरण ग्रहण कर ली है, उनके लिये तो कर्मयोगका यह तत्त्व और भी सुगम है। किंतु पुत्र, स्त्री, गृह, धन और देहादिमें प्रीति होनेके कारण इनकी प्राप्तिरूप स्वार्थकी इच्छाका त्याग होना कठिन है तथा मान-बड़ाईका त्याग तो इनसे भी अत्यन्त ही कठिन है। शरीर और संसारमें आसक्ति होनेके कारण संसारके पदार्थोंकी आवश्यकता प्रतीत होती है और आवश्यकताके कारण कामना होती है एवं कामनाकी पूर्तिके लिये मनुष्य कर्मोंका सम्पादन करता है। उनसे कामनापूर्ति न होनेपर वह याचनातक करनेको प्रवृत्त हो जाता है। अतएव इन सब अनर्थोंका मूल आसक्ति ही है, जिसे हम 'राग' कह सकते हैं। यह राग अनुकूलतामें होता है और सुखके देनेवाले पदार्थ ही मनुष्यको अनुकूल प्रतीत होते हैं। इससे प्रतिकूल दुःखदायी पदार्थोंमें द्वेष होता है और उस द्वेषसे वैर, ईर्ष्या, क्रोध, भय और संताप आदि अनेक दुर्भाव उत्पन्न होकर हिंसादि कर्मके द्वारा मनुष्यका पतन हो जाता है। अतएव सारे अनर्थोंके हेतु ये राग-द्वेष ही हैं। इन राग-द्वेषोंका कारण मोह (अज्ञान) है। भगवान्की कृपासे जब इस बातका रहस्य पूर्णतया मनुष्यकी समझमें आ जाता है, तब उसके राग-द्वेष क्षीण हो जाते हैं और क्षीण हुए राग-द्वेष श्रीपरमेश्वरके नाम, रूप, गुण और प्रभावके स्मरण एवं मननसे नष्ट हो जाते हैं। फिर मन और इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही उसके अधीन हो जाती हैं। ऐसी अवस्थामें उसके द्वारा आसक्ति और स्वार्थके त्यागरूप कर्मयोगका सम्पादन बड़ी सुगमतासे होता है, जिससे वह परम आनन्द और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। (यही कारण है कि ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट माना गया है।)

शिव—विराट् समन्वयके देव

(लेखक—श्रीमांगीलालजी मिश्री 'मनीष')

भगवान् शिव भारतीय संस्कृति, धर्म एवं जीवनमें विराट् समन्वयके देव हैं। शिवका ईश्वरीय रूप जहाँ दर्शन, अध्यात्मतन्त्र और भक्तिमें अपनी अलौकिक महिमासे धर्म-प्राण भारतीय जीवनकी आराधना तथा उपासनामें सर्वप्रिय रहा है, वहीं उनका सम्पूर्ण शिवमय रूप अनेकानेक दृष्टियोंसे भारतीय सांस्कृतिक एकता, आस्था, भारतभूमिकी अखण्डतामें भी अपने विराट् समन्वयके गुणोंसे अपने-आपमें इतना अनुपम, विरोध-मूलक तथा विचित्रताओंसे परिपूर्ण है कि संसारकी किसी संस्कृति या किसी भी धर्ममें शिवके समान देवता, लोकनायक या कालजयी महासाधक नहीं मिलता है। शिवके ऐसे ही स्वरूपके विचारणीय प्रश्न उनकी विशिष्टतापर संकेत करते हैं।

शिव—विराट् समन्वयका महासाधक

इस सृष्टिका सम्पूर्ण विरोधमूलक रूप शिवमें कल्याणमय हो उठा है। शिव अपने-आपमें विषमताकी सम्पूर्ण एकता हैं। आश्चर्य होता है कि शिव राक्षसोंके भी उपास्य हैं, देवताके भी और मानवके भी। दैवी संस्कृतिके कट्टरतम शत्रु एक-से-एक आसुरी प्रकृतिके राक्षसोंमें रावण, हिरण्यकशिपु, भस्मासुर, गजासुर, हिरण्याक्ष, अन्धक, बाणासुर आदि कट्टर शिव-भक्त एवं उनके सच्चे उपासक थे। देवताओंके जन्मजातविरोधी, भौतिकताके साधक, नास्तिक, राक्षसोंने शिवकी उपासना कर वरदानोंसे अपना अभ्युदय किया था। देव एवं दानवके मध्य शिवकी तटस्थता, समभाव, उनके देवाधि-देव रूपका प्रमाण है।

सृष्टिके सृजन, पालन तथा संहाररूपमें ब्रह्मा, विष्णु, महेशमें शिव ही सर्वोपरि परमब्रह्म माने गये हैं।

एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन।
संसृज्य विश्वभुवनं गोप्तान्ते संचुकोच यः॥
विश्वतश्चक्षुरेवायमुतायं विश्वतो मुखः।
तथैव विश्वतो बाहुर्विश्वतः पादसंयुतः॥

'सृष्टिके आरम्भमें एक ही रुद्रदेव विद्यमान रहते हैं, दूसरा कोई नहीं होता। वे ही इस जगत्‌की सृष्टि करते हैं, इसकी रक्षा करते हैं और अन्तमें सबका संहार कर डालते हैं। उनके सब ओर मुख हैं, सब ओर नेत्र हैं, सब ओर भुजाएँ हैं और सब ओर चरण हैं। स्वर्ग और पृथ्वीको उत्पन्न करनेवाले वे ही एक महेश्वर देव हैं (शिवपुराण, वायवीयसंहिता ६। १४-१५)।

शिवके इस विराट्‌रूपके बाद उनकी व्यापकतामें सम्पूर्ण समन्वयका रूप भी विचारणीय है। शिवमें देव, दानव, मानव, ईश्वर, उपासक, भक्त, भगवान्, गृहस्थ, वैराग्य, भोग-मोक्ष, भक्ति, योग, ज्ञान, मङ्गल-अमङ्गल, अमृत-विष, जीवन-मृत्युका सर्वत्र समन्वय है जो शिवकी आकृतिमें दर्शनीय है—चन्दन और श्मशानकी राख, चन्द्रमा और मुण्डमाल, गङ्गा और गरलके सर्पराज, डमरू और त्रिशूल आदिका एकत्र समावेश है। शिवकी उपासनामें भी समन्वय है; क्योंकि उन्हें चन्दन, सुगन्धित पुष्पके साथ आक, धतूरा, बिल्वपत्र, बेर परमप्रिय हैं। शिवकी संहारक क्षमताके साथ शीतलतामें गङ्गाधारणकी क्षमता एवं जल-प्रियतासे प्रमाणित है कि आज भी गर्मीके मौसममें भारतके गाँव-गाँवमें छोटे-से-छोटे शिवालयमें शिवलिंगके ऊपर मिट्टीका कलश (जलधारा) रखा जाता है, जिससे टपकती बूँदें उन्हें शीतल करती हैं। शिवके साथ (विजया-भाँगका) तो रंग अलग ही है।

शिव कठोर वैरागी, श्मशानके राखवाले, मुण्डमाल धारण करनेवाले रमते बाबा हैं। ये अवधूत योगी हैं

पर आश्चर्य है कि आजतक भारतीय संस्कृतिमें शिव अपनी प्रिया आद्याशक्ति पत्नी पार्वतीके साथ भारतीय गृहस्थ जीवन एवं दाम्पत्यके आदर्श हैं। आज भी विवाहके अवसरपर उनकी कथासे गृहस्थीकी प्रतिष्ठा होती है। शिव एवं शक्तिकी यह अनन्यता सम्पूर्ण विश्वका आधार है। शिव-शिवाका यह रूप शक्ति-शक्तिमान्, अन्धकार-प्रकाश, सूर्य-चन्द्र, दिन-रात, समुद्र-तट, वृक्ष-लता-सा है। कामको भस्म करनेवाले यही देव दाम्पत्यके आदर्श हैं।

भारतीय संस्कृति राष्ट्रियता एवं शिव

शिवका भगवती उमाके साथ गृहस्थरूप भारतीय नारीके पातिव्रत और सती-धर्मका आदर्श है।

वस्तुतः शिवकी यह दैवी धारणा मानवीय संस्कृति-की विराट्रूपा हमारी संस्कृतिकी प्राण है—

'या उमा सा स्वयं विष्णुः................।
येऽर्चयन्ति हरिं भक्त्या तेऽर्चन्ति वृषभध्वजम्।
पुँल्लिङ्गं सर्वमीशानं स्त्रीलिङ्गं भगवत्युमा॥
व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं महेश्वरः।
उमाशंकरयोर्योगः स योगो विष्णुरुच्यते॥

शिवकी यह अखण्ड एकता इतनी अनन्य है कि ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्ण आदिसे शिवको अलग माननेवाला कल्पोंतक नरक भोगनेका दण्ड पाता है। देव और दानवके मध्य सांस्कृतिक एकता एवं सामञ्जस्य शिवसे ही भारतीय संस्कृतिमें संतुलित रहा है। शिवका आवास हिमालय पर्वत है, जो प्राचीनतम दैवी संस्कृतिका केन्द्र रहा था। महाभारतमें शिवके किरात-वेशमें अर्जुनको पाशुपत-अस्त्र देने तथा सैन्यरूपमें योद्धारूप उनकी विशिष्टता दर्शाता है। लोककथाओंमें दुःखोंसे दग्ध मानव-समाजमें समय-समयपर शंकर-पार्वतीके भारत-भ्रमण एवं दीन-दुखियोंके दुःख दूर करनेके वृत्तान्त आज भी जनमानसमें उनकी वत्सलता प्रमाणित करते हैं। देवलोकसे मानव-लोकतक समाजकी स्थितिके अनुरूप उनका आशुतोष, भोलेनाथ, त्वरितप्रसन्न और कल्याणकारीरूप आजतक अपनी युगयुगीन गरिमा लिये प्रसिद्ध है। शिव, उमा, गणेश, स्कन्दरूपमें शिवकी गृहस्थी भारतका आदर्श गृहस्थ-धर्म है। भारतभूमिमें शिवकी उपासनाका मङ्गलमय अवतरण किसी भी मूल्यमें भगवती भागीरथीके अवतरणसे कम नहीं है।

शिव आशुतोष, औढरदानी

शिवका यह रूप उन्हें भारतका सच्चा लोकनायक तथा विश्वम्भर सिद्ध करता है। शिवके समान कोई दाता नहीं। जितने वरदान शिवने दिये उतने किसी देवताने नहीं दिये। शिव भुलक्कड़ या भोले भण्डारीके रूपमें आशु (शीघ्र) तोष (संतुष्ट होनेवाले) हैं। औढरदानी शीघ्र कृपा करनेवाले हैं। शिवपुराणकी एक कथामें उनके विचित्र कृपालुरूपका प्रमाण मिलता है।

गुणनिधि नामके ब्राह्मण-पुत्रके, जो दुराचारी तथा जुवारी था, भूखसे व्याकुल होकर शिवालयमें चोरीके लिये आने, अँधेरेमें प्रकाशके लिये कपड़ा जलाने तथा नैवेद्य चुरानेके प्रयोजनको, इन भोले-भण्डारीद्वारा शिवालयमें प्रकाश या दीपक जलानेके प्रयासको, पूजा समझकर दिक्पाल बना देना उनके कृपालु-स्वभावका संकेतक है। ऐसे ही एक भीलद्वारा शिकार करनेके प्रयोजनसे जलाशयके समीप बिल्वपत्रके वृक्षपर चढ़ने एवं धनुष-संधानसे बिल्वपत्र गिरनेपर बिल्वपत्रद्वारा पूजा मानकर उसे निषादराज गुह बनकर राम-सान्निध्यका वरदान देनेवाला करुणाविगलित देव और उनका ऐसा अद्वितीय दानीरूप संसारके किसी धर्म तथा संस्कृतिमें न होगा।

लेकिन शिवमें सहज कृपाके साथ कठोर अटूट दृढ़ता भी है। रामकी परीक्षामात्रके आरोपमें सतीका त्याग इसका प्रमाण है। ऐसे ही रामचरितमानसमें काकभुशुण्डि नामक अपने एक शिष्यपर केवल गुरुको प्रणाम न करनेके दण्डस्वरूप शिवका कठोरतम रूप भी कम नहीं है, जिससे उसे सर्प एवं तिर्यक्योनिमें भीषण दुःख भोगनेका दण्ड दिया गया।

शिव ईश्वर होते हुए भी कठोर तपस्वी थे। उनकी अविचल साधना, अटूट समाधि, ध्यान एवं भक्तिमय आराधना महानतम थी, जिसे भंग करनेका उपक्रम करनेपर कामदेव तकको भस्मीभूत होना पड़ा।

भारतभूमिकी अखण्ड राष्ट्रियता एवं शिव

शिवका लोकत्रातारूप महादेव, महेश्वर, शंकर, शिव आदि रूपमें भारतीय धर्मप्राण जनताके हृदयपर आज भी रमा है। शिवोपासना समस्त कर्मकाण्डोंसे रहित एवं अनायास सिद्ध है। अतः शिवकी लोकप्रियता भारतीय राष्ट्रिय एकताका प्राणतत्त्व रही है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है शिवके द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग। इन रूपोंमें शिव अपने विविध रूपोंमें हिमालयसे सेतुबन्ध रामेश्वरतक परम रूपमें मान्य हैं। द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग भारतभूमिकी भौगोलिक गरिमाका दर्शन है। शस्यश्यामला धरतीके नैसर्गिक वनोंकी सुषमामय छविके साथ नदियोंका पावन तट प्रकृतिकी सुन्दर क्रीड़ामय भूमिमें शिवका यह ज्योतिरूप भारतकी सच्ची झाँकी है—

(१)हिमालय—केदारेश्वर, (२) उत्तरप्रदेश—काशीविश्वनाथ, (३) मध्यप्रदेश—उज्जैन-महाकाल, (४) ओंकारेश्वर, (५) सौराष्ट्र गुजरात—सोमनाथ, (६) आन्ध्रप्रदेश—परलीमें दारुकवनमें नागेश्वर, (७) बिहारप्रदेश—वैद्यनाथ, (८) औरंगाबाद-शिवालयमें घुश्मेश्वर, (९) महाराष्ट्र—नासिकमें त्र्यम्बकेश्वर, (१०) बम्बई-पूनाके मध्य सह्यपर्वतके डाकिनी नामक स्थानपर भीमशंकर, (११) मद्रास—श्रीशैलपर्वतपर मल्लिकार्जुन और (१२) सेतुबन्धपर रामेश्वर।

शिवके साथ शिवा (भवानी)के ८४ शक्तिपीठ—सिद्धक्षेत्र सम्पूर्ण भारतमें गहन वन-पर्वतोंका रूप है। शिवका देश-व्यापी रूप अपनी विराट्तामें आज भी अद्वितीय है, भारतीय संस्कृतिमें अतुलनीय है। भारतीय संस्कृतिमें जितने भी धर्म-सम्प्रदाय प्रवर्तित हुए उनमें शिवका नाम अत्यन्त लोकप्रिय है। भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, शैव, वैष्णव, शाक्त, तन्त्र-मन्त्र-सिद्धकर्ता एवं बादमें जितने भी मत-मतान्तर हुए उन सबमें शिवका रूप प्रभावशाली है। इसके साथ ही कलाके क्षेत्रमें शिवका नृत्यकर्त्तारूप डमरू, ताण्डवनृत्य आदि भी विचारणीय है। शिव संघर्षमें आनन्दके साधक हैं। योग और समाधिके आनन्दकी चरमताके प्रमाण हैं। शिवके साथ ही नन्दीश्वर, रुद्रगण, पञ्चमुखी, त्रिगुण, अष्टमूर्ति, काम-दहन, त्रिपुर-वध, पशुपति, शङ्ख, डमरू, सर्प, विभूति, बेर, प्रदोष, बिल्वपत्र, आक, नर-नारीश्वर आदि कई प्रकरण अनुसंधान करनेपर शिव-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण निर्देशन कर सकते हैं। अनुशीलन करनेपर आर्य-सभ्यताके वैज्ञानिक इतिहासके संकेत इनसे मिलेंगे। जैसे बिल्वपत्रको देखें तो इसकी सूक्ष्म काया भी त्रिवर्गमें होती है। इसका कोई पत्ता तीनसे कम न होगा। यह त्रिमूर्ति या त्रिगुण-रूपमें शिवकी समन्वित एकताका प्रमाण है। बिल्वपत्र-वृक्षका पत्ता-पत्ता जिस प्रकार तीन होकर भी एकसे जुड़ा है, वैसे ही आदिनाथ शंकर भी एक हैं। ऐसे ही आक-पुष्प (आँकड़ा) शिवके पञ्चमुखी या पञ्च रूपका प्रमाण है। आक-पुष्पमें पाँच पँखुड़ीकी एकता विचित्र है। आज भी सावन मासमें धरती जब हरीतिमासे आच्छादित हो वनस्थलीय सुषमासे अलंकृत होती है, तब शिव-भक्त सावन-व्रत रखते हैं। इसमें शंकरको ३६ प्रकारकी वनस्थलीय पत्तियाँ अर्पित होती हैं। शिवालय सदैव स्नानयोग्य जलाशयसे युक्त रमणीय स्थानपर होता है। वहीं प्राकृतिक जलसे स्नान-ध्यान और एकान्त शिवोपासना और फिर आनन्द ही आनन्द। वस्तुतः जीवनके सुख-दुःख, मङ्गल-अमङ्गल, प्रकाश-अन्धकार जीवन-मृत्युकी इस जीवन-यात्रामें अमङ्गलसे मङ्गल, तमस्‌से ज्योतिर्गमय माङ्गलिक कल्याणकारी आनन्दमय जीवन ही शिवकी भक्तिमय साधनाका रहस्य है, जो भारतकी महा-गरिमामय विभिन्नतामें एकताका विराट्‌रूप दर्शाती है।

अमङ्गल्यं तव शीलं भवतु नामैवमखिलम्।
तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि॥

श्रीरामका अवतार

(लेखक—श्रीशिवनाथजी दुबे, एम्० ए०, एम्० एस०, साहित्यरत्न)

'श्रुति-सेतु पालक राम'

धर्म विश्वकी प्रतिष्ठा है । धर्मसे विश्वका संचालन होता है । धर्म ही 'परम' (तत्त्व) कहा गया है । ऐसे धर्मका जब ह्रास होने लगता है और अधर्म सिर उठाने लगता है—अनीति-अत्याचार, दुराचार एवं हिंसा-प्रति-हिंसा जागरूक होकर फैलने लगती है, तब भगवत्तत्वका प्राकट्य होता है—

जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी । सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा ॥

अवतीर्ण भगवत्तत्त्व पुनर्वार धर्म-संस्थापन करता है और साधु-संरक्षणकर त्रस्त मानवताको राहत पहुँचाता है । इसी तत्त्वावतारको हम भगवदवतार कहते हैं । त्रेतामें अवतरित श्रीराम भगवद्विभूतियोंसे—शील, शक्ति, सौन्दर्य आदिसे—विमण्डित मर्यादा-पुरुषोत्तम थे, जिनका जीवन धर्ममय था, मर्यादानिष्ठ था, धर्मका वास्तविक आदर्श था । उनका शील विश्व-विजयी, शक्ति सर्वातिशायी और सौन्दर्य अप्रतिम था, अलौकिक था । वस्तुतः राम-सा मर्यादापुरुष उस युगमें भी दूसरा कोई नहीं था—**'सकल लोक अभिराम राम हैं है न राम-सा कोई ।'** 'वाल्मीकीय-रामायणका प्रथम अध्याय उनके शील, सौन्दर्य, ऐश्वर्यकी संक्षिप्त-सूची प्रस्तुत करता है जो सर्वथा अद्वितीय है । त्रेतामें पृथ्वी पाप-भारसे आक्रान्त हो विह्वल हो गयी थी । अनीति, अत्याचारका बोलबाला था । निशाचरों और राक्षसोंका प्राबल्य साधुसंत्रास-को बढ़ाता जा रहा था । ऐसे समयमें भगवान् श्रीरामका अवतार हुआ ।

श्रीराम यद्यपि मानवदेहसे राजा दशरथके यहाँ कौशल्याके गर्भसे प्रादुर्भूत हुए थे, पर वे सच्चिदानन्दघन ही थे—'सोइ सच्चिदानन्दघन रामा ।' शास्त्रोंमें ऐसा ही निरूपण है तथा उनके जीवनकी अलौकिक घटनाएँ उसीकी पुष्टि करती हैं । जहाँतक धर्मका सम्बन्ध है, श्रीराम धर्मावतार थे, मूर्तिमान् धर्म थे ।

वास्तवमें धर्मके चार स्वरूप हैं—सामान्य, विशेष, विशेषतर और विशेषतम । भगवान् विष्णुने अवतार धारणकर इन चारों धर्मोंकी स्थापना की । देवताओंने भगवान् विष्णुसे चक्रवर्ती नरेन्द्र श्रीदशरथजीके राजकुमार बनकर चार प्रकारके रूप धारण करके अवतार लेनेके लिये निवेदन किया था—

त्वां नियोक्ष्यामहे विष्णो लोकानां हितकाम्यया ।
राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेर्विभो ॥
धर्मज्ञस्य वदान्यस्य महर्षिसमतेजसः ।
अस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च ॥
विष्णोर्पुत्रत्वमागच्छ कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ।
(वा० रा० १ । १५ । १९–२१)

अर्थात्—'हे भगवान् विष्णु ! लोकहितके लिये हमलोग आपको यह भार सौंपते हैं । हे प्रभो ! अयोध्यानरेश महाराज दशरथ धर्मज्ञ, दानी एवं महर्षिके समान तेजस्वी हैं । उनकी तीनों महारानियाँ ह्री, श्री तथा कीर्तिके समान हैं । हे विष्णो ! आप अपने चार अङ्ग बनाकर उनके पुत्र बनें ।'

देवताओंके इस निवेदनको भगवान् विष्णुने सहर्ष स्वीकार किया । आदि कवि वाल्मीकि मुनिके शब्दोंमें—

ततः पद्मपलाशाक्षः कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ।
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ॥
(वा० रा०, १ । १५ । ३१)

अर्थात्—'ऐसा निश्चय करके भगवान् विष्णुने अपना चार भाग किया । तत्पश्चात् महाराज दशरथको अपना

पिता बनाना निश्चित किया।' भगवान् अपने पृथक्-पृथक् चार रूपोंमें प्रकट हुए। स्वायम्भुव मनुको आपने समझाते हुए कहा—

अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुखदाता॥
(रा० च० मा० १। १५१। २)

महाराज परीक्षितको श्रीराम-कथा सुनाते हुए श्रीशुकदेवजीने भी भगवान्के चतुर्विध होनेका इस प्रकार वर्णन किया है—

'देवताओंकी प्रार्थनासे साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीहरि ही अपने अंशांशसे चार रूप धारण करके राजा दशरथके पुत्र हुए। उनके नाम थे—राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न। (श्रीमद्भा० ९। १०। २)।' इस धराधामपर भगवान् श्रीरामके अवतारका मुख्य उद्देश्य केवल रावणादि राक्षसोंका संहार नहीं, अपितु मानव-समाजमें धर्म-स्थापन एवं मानव-धर्मकी शिक्षा देना है।

सौशील्य, सर्वान्तर्यामित्व, सर्वेश्वरत्व, कारुण्य, वात्सल्यादि महान् परमेश्वरीय गुणोंके साथ अखिल ब्रह्माण्डनायक मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम प्रकट हुए। मातृ-भक्ति, पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति, विप्र-भक्ति, प्रजापालन, भ्रातृ-स्नेहादि सामान्य लोक-धर्म हैं। इन सामान्य लोक-धर्मोंका जैसा पालन दशरथनन्दन श्रीरामने किया, वह मानवमात्रके लिये अनुकरणीय है। परम प्रभु श्रीरामने सभी प्रकारकी मर्यादाओंका निर्वाह करके महान् आदर्श प्रस्तुत किया है।

सामान्य लोकधर्मोंका पूर्णरूपसे पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है। श्रीरामको भी पितृभक्तिके निर्वाहमें यद्यपि अनेकानेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा, तथापि त्रैलोक्यत्राता श्रीरामने लोक-संग्रह एवं लोक-शिक्षणके लिये अयोध्याके राज्य एवं प्राणोपम स्वजनोंको भी अनासक्त-भावसे त्यागकर सपत्नीक चौदह वर्षोंतक वनवास करनेके लिये प्रस्थान किया।

महाराज परीक्षितको श्रीराम-कथा सुनाते हुए श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि श्रीरामने पत्नीके वशीभूत, किंतु सत्यके बन्धनमें बँधे हुए पिताके आदेशको शिरोधार्य किया और राज्य, लक्ष्मी, प्रेमी, हितैषी, मित्र तथा राजप्रासादको छोड़कर अनासक्तिपूर्वक सपत्नीक वन-यात्राकर पुत्रोचित कर्त्तव्य-कर्म तथा सत्य और धर्मका आदर्श उपस्थित किया।

यः सत्यपाशपरिवीतपितुर्निदेशं
स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः।
राज्यं श्रियं प्रणयिनः सुहृदो निवासं
त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसङ्गः॥
(श्रीमद्भा० ९। १०। ८)

जब राम-विरहकातर भाई श्रीभरत—सभी माताओं, गुरुजनों, प्रजाजनों आदिके सहित लोकोपकारी श्रीरामको मनानेके लिये चित्रकूट पधारे तब एक ओर जहाँ भक्त-शिरोमणि, प्रेमावतार, शीलसिन्धु श्रीभरत-जीके अनुरोधको अस्वीकार कर देना श्रीरामके लिये अत्यन्त कठिन था और वहीं दूसरी ओर अयोध्या वापस हो जानेपर पिताके वचनोंका पालन न हो पानेकी स्थिति जो थी, असह्य थी। गम्भीरतापूर्वक सोचनेपर यह एक असमंजसकी परिस्थिति थी। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ही ऐसी दुर्जय परिस्थितिको सँभालनेमें समर्थ हो सके। आपने श्रीभरतसे कहा—

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥
तापर गुर मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा॥
मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥
(मानस २। २६३। ३-४, २६४)

उल्लेखनीय है कि यहाँपर जब 'मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करौं सोइ आजु।' कहकर मुनि-मन-मानस-मराल भगवान् श्रीरामने श्रीभरतको ही निर्णय करनेका काम सौंप दिया, तब मर्यादा-पुरुषोत्तमकी सामान्य-धर्म-

निष्ठा, त्याग एवं सहज संकोचको देखकर श्रीभरतजीको ही अत्यन्त, अधिक झुक जाना पड़ा और अपने तथा गुरुजनों एवं अयोध्यावासियोंके प्रस्तावमें परिवर्तन कर श्रीरामचन्द्रजीके आदेशको ही अपना परम कर्तव्य मानकर अयोध्याके लिये वापस होना पड़ा। धर्मवत्सल श्रीराम तो श्रीभरतलालकी प्रार्थना और गुरुकी आज्ञाको सहर्ष स्वीकार करनेके लिये प्रस्तुत ही थे, परन्तु श्रीरामजीके सौशील्य एवं पितृ-भक्ति-निष्ठासे प्रभावित होकर किसीको भी उस निष्ठाके विपरीत कहनेका साहस ही नहीं हुआ। फलस्वरूप भगवान् श्रीराम अपनी सच्ची सामान्य लोक-धर्म-निष्ठा, त्याग एवं सौशील्यके बलपर उस विषम परिस्थितिको भी सँभालनेमें पूर्णरूपसे समर्थ हो सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर भातृ-स्नेह और गुरु-भक्तिका भी निर्वाह श्रीरामद्वारा किया गया, तो दूसरी ओर पितृ-भक्तिकी भी मर्यादाका पूर्णरूपसे पालन हुआ।

यहाँपर श्रीरामके सामान्य-लोक-धर्मके पालनकी मात्र एक घटनाका उल्लेख किया गया है। यों उनका अवतरण लोकधर्म-पालनके आदर्शोंसे परिपूर्ण है। सामान्य-लोकधर्मके पालनका स्वयं एक आदर्श बनना इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न श्रीरामके लिये ही सम्भव था, किसी अन्य जीव-कोटिके लिये नहीं। शास्त्रोंद्वारा प्रस्तुत किये गये आदर्शोंपर चलना मानव-मात्रका परम कर्तव्य है। अशरणशरण भगवान् श्रीरामने हम सांसारिक प्राणियोंका पथ-प्रदर्शन किया है और धर्म-संस्थापन भी। भगवान् हमें यह शक्ति प्रदान करें कि हम उनके द्वारा प्रदर्शित धर्म्य मार्गोंपर चल सकें। यह कृपाशक्ति श्रीरामकृपाके बलपर हमें तभी प्राप्त होगी, जब हम श्रीरामके पावन-चरित्रोंका चिन्तन तथा सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन-मनन अहर्निश करते रहें।

जानकी-जीवन—श्रीरामका भजन

यः पृथ्वीभरवारणाय दिविजैः सम्प्रार्थितश्चिन्मयः
संजातः पृथिवीतले रविकुले मायामनुष्योऽव्ययः।
निश्चक्रं हतराक्षसः पुनरगाद् ब्रह्मत्वमाद्यं स्थिरां
कीर्तिं पापहरां विधाय जगतां तं जानकीशं भजे॥
(अ० रा० १।१।१)

'जिन चिन्मय अविनाशी प्रभुने पृथ्वीका भार निवारण करनेके लिये देवताओंद्वारा प्रार्थना किये जानेपर भूतलपर सूर्यवंशमें माया-मानवरूपसे अवतार धारण किया तथा जो राक्षसोंके समूहका संहार करके और त्रिलोकीमें अपनी पापहारिणी अविचल कीर्ति स्थापित करके पुनः अपने आद्य ब्रह्मस्वरूपमें लीन हो गये, उन जानकीवल्लभ-(श्रीराम-)का मैं भजन करता हूँ।'

गीतोक्त कर्मयोग और आधुनिक कर्मवाद

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत वचन)

[गताङ्क संख्या २, पृष्ठ सं० २१ से आगे]

जगत् त्रिगुणात्मक है; इसमें निरन्तर तीनों गुणोंके ही कार्य हो रहे हैं। इनमेंसे जब जिस गुणकी प्रधानता होती है, तब उसके कार्यका रूप भी वैसा ही होता है। यह सिद्धान्त है कि प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है, निरन्तर ऊपर उठनेकी चेष्टा न की जाय तो स्वभावसे पतन ही होता है। यदि सत्त्वगुणसे भी ऊपर चढ़नेकी, गुणातीत होनेकी, चेष्टा न होगी तो सत्त्व, रजोमुखी होकर रजोगुणप्रधान और क्रमशः तमोमुखी होकर तमोगुणकी प्रधानताके रूपमें परिणत हो जायगा। सत्त्व और रज दबकर तम विकसित हो उठेगा। अतएव यह सिद्धान्त मान लेना चाहिये कि जिस कर्ममें भगवान्‌की ओर दृष्टि और भगवान्‌का आश्रय नहीं है, जो केवल इहलौकिक विषय-लाभकी दृष्टिसे किया जाता है, वह सत्त्वप्रधान होनेपर भी क्रमशः रजोगुणकी ओर बढ़कर रजःप्रधान हो जाता है। रजोगुणकी वृद्धि होनेपर किन-किन लक्षणोंका उदय होता है?—श्रीभगवान् गीता (१४। १२) में कहते हैं—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥

'हे अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, कर्ममें प्रवृत्ति, कर्मोंका (अनेकमुखी) आरम्भ, चित्तकी चञ्चलता, विषय-भोगोंके प्राप्त करनेकी स्पृहा—ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।' इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त रजोगुणी कर्मोंके कर्त्ताका स्वरूप बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥

(गीता १८। २७)

'वह कर्म और फलमें आसक्तिवाला, फल चाहनेवाला, लोभी, हिंसक, अपवित्र आचरण करनेवाला और हर्ष-शोकमें डूबा रहनेवाला होता है।'

आधुनिक कर्मवाद और कर्मवादियोंमें ये लक्षण पूर्णरूपसे चरितार्थ होते हैं। अवश्य ही मोह, अप्रवृत्ति, आलस्य और प्रमादमय तामसिक जीवनसे यह जीवन कहीं श्रेष्ठ है, परंतु यह आदर्श नहीं है। रजोगुण सत्त्वमुखी न होगा तो तमोमुखी हो जायगा और अन्तमें तमोगुणकी प्रधानताका रूप धारण कर लेगा। किसी समय भारतवर्षमें भी जन्मकर्मफलप्रद भोगैश्वर्यगतिकी प्राप्तिके लिये कर्मकाण्डकी प्रचुरता थी। यद्यपि भारतका वह कर्मकाण्ड आधुनिक नास्तिकतापूर्ण कर्मवादसे बहुत ही ऊँचा था, तथापि उसमें लौकिक कामना और आसक्ति होनेके कारण वह कर्मप्रवृत्ति भी अन्तमें तमोमुखी हो गयी। भारतकी आजकी तामसिकता, उसका मोह और आलस्यमय जीवन इसीका परिणाम है। इसीलिये भगवान्‌ने घोषणा की थी कि 'भोगैश्वर्यमें आसक्तिवाले पुरुषोंकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती।' परंतु गीतोक्त कर्मयोगी भोगैश्वर्यमें आसक्त नहीं होते। वे न तो भोग-सुखकी स्पृहा करते हैं और न वैध भोगका अकारण विरोध ही करते हैं।

भगवान्‌ने गीता-(२। ६४-६५) में उनके विषय-भोगकी व्याख्या करते हुए कहा है—

'जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, जिसमें राग-द्वेष नहीं है, वह पुरुष अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता हुआ प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त करता है। उस (विमल) प्रसादसे समस्त दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले पुरुषकी बुद्धि (एक परमात्मामें) शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।'

मन और इन्द्रियोंका गुलाम होकर विषयोंकी आसक्तिसे नहीं, प्रत्युत मन और इन्द्रियोंको गुलाम बनाकर

यथावश्यक ऊपर उठानेवाले विषयोंका सेवन करनेवाला पुरुष प्रसन्नता प्राप्त करता है। इसीलिये गीताके कर्मयोगकी शिक्षामें कामोपभोगकी अनित्यता, सुख-दु:खकी क्षणभङ्गुरताका बार-बार वर्णन आता है और विषयोंसे मन हटाकर इन्द्रिय-संयमपूर्वक कामना और फलासक्ति-शून्य हृदयसे कर्म करनेकी आज्ञा दी गयी है। भगवान्ने कहा है—

'हे अर्जुन! प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं। अतएव इन इन्द्रियोंको वशमें करके मनको मुझमें लगाकर मेरे परायण हो जाना चाहिये। जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है (गीता २। ६०—६१)। इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले जो ये सब भोग हैं, सो (मोहवश सुखरूप भासनेपर भी वस्तुत:) नि:संदेह दु:खके ही कारण हैं और सदा एक-से नहीं रहकर कभी उत्पन्न होने और कभी नाश होनेवाले आदि-अन्तरूप हैं, अतएव बुद्धिमान् पुरुष इनमें नहीं रमता (गीता ५। २२)। इसलिये (ममत्वबुद्धिरहित) निष्कामकर्मयोगी पुरुष इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा आसक्तिको त्यागकर केवल अन्त:करणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं; इसीसे परमात्मामें चित्त लगाये हुए कर्मयोगी पुरुष कर्मफलको त्यागकर भगवत्-प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त करते हैं। विषय-चिन्तनमें लगा हुआ सकामी मनुष्य फलासक्तिके कारण कामनाके द्वारा बन्धनको प्राप्त होता है' (गीता ५। ११—१२)।

अन्त:करणकी शुद्धि हुए बिना भगवद्-भाव नहीं होता। भगवद्-भावकी प्राप्ति बिना शुद्ध भगवत्प्रेरित कर्म नहीं हो सकते। इसलिये कर्मयोगी पहले भगवद्-भावकी प्राप्तिके लिये और भगवद्-भावकी प्राप्ति होनेपर केवल भगवान्की प्रेरणाके वश यन्त्रकी भाँति कर्म करता है। उस समय वह कर्मके बाह्य स्वरूपको न देखकर अर्जुनकी भाँति गुरुवध, स्वजनवध, भीषण हिंसा आदिकी बात न सोचकर—केवल भगवान्की प्रेरणाको देखता है। भगवान् ही उसकी गति, नीति, उद्देश्य, जीवन और धर्म होते हैं। भगवान्के साथ युक्त होकर भगवदीय कर्म करना ही उसका स्वभाव होता है। यही गीताकी अन्तिम शिक्षा है—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'**

इसका यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियोंके वशमें होकर, भोग-प्रवृत्तिकी प्रेरणासे मनमाना करते हुए मनुष्य उसे ईश्वरकी प्रेरणा समझने या कहने लगे। *श्रद्धापूर्वक भगवान्का नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुए मनुष्यके अन्त:करणमें जो शुद्ध स्फुरणा हो और जिससे इन्द्रिय-भोग-लालसा और कामनाका क्रमश: दमन होता हो, जो शास्त्रोक्त कर्म हो, पहले-पहल ऐसे ही शुभ कर्मोंकी प्रेरणाको भगवत्-प्रेरणा समझे। साधना करते-करते भगवत्प्रेरणाकी स्पष्ट अनुभूति होने लगेगी। इसीलिये गीताकी शिक्षा वस्तुत: अर्जुन-जैसे योग्य अधिकारीके लिये है। परंतु वह अधिकार भी गीताकी शरण, गीताका अध्ययन और मनन एवं गीताके उपदेशानुसार जीवन बनानेकी चेष्टा करनेसे ही प्राप्त होगा। इसलिये गीताकी शिक्षा वस्तुत: इन्द्रियसंयमी, तपस्वी, भक्त अधिकारीके लिये होते हुए भी, साधारणत: सभीके लिये है। अनधिकारके कारण ही गीताका दुरुपयोग होता है और इसीसे आधुनिक कर्मवादकी सिद्धि या उसका समर्थन गीताके द्वारा करनेकी व्यर्थ चेष्टा की जाती है।*

गीताका कर्मयोग शुद्ध भगवन्मुखी है और आधुनिक कर्मवाद केवल भोगमुखी है, यही इनमें सबसे बड़ा अन्तर है। भोगमुखी होनेके कारण ही इसमें राग-द्वेष, घृणा, काम-क्रोध और पाप-ताप आदिका प्राबल्य है। और इसीलिये ऐसे कर्मवादियोंकी यह समझ है कि बिना कामनाके कर्म कैसे हो सकता है? बिना राग-

द्वेषके कर्ममें प्रवृत्ति ही क्यों होने लगी ? यदि फलकी ही इच्छा नहीं है तो कर्ममें बेगारके भावको छोड़कर उत्साह होगा ही क्यों ? भोगमुखी रजोगुणी कर्मप्रवृत्तिमें आसक्ति, कामना, क्रोध, द्वेष, राग, घृणा आदि दोष रहते हैं, इसीसे ऐसी समझ बन गयी है । परंतु जिनमें सत्त्वगुणका प्रकाश हो गया है, जिनकी बुद्धि परमात्म-मुखी है, वे भगवान्‌के लिये कठोर-से-कठोर कर्म करनेमें भी सात्त्विक उत्साह पाते हैं । वे अनुकूल, प्रतिकूल फलोंको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर यन्त्रीके यन्त्रकी भाँति नित्य नये उत्साह और आनन्दके साथ स्वामी या प्रियतम प्रभुका कार्य करते-करते कभी थकते ही नहीं; क्योंकि सर्वशक्तिमान् प्रभु उन्हें अनवरत शक्ति दान करते रहते हैं; वे चलते भी प्रभुकी शक्तिसे हैं । अपना अहंकार उन्हें कभी नहीं होता । वे कभी मार्ग नहीं भूलते; क्योंकि उन्हें निरन्तर प्रभुसे प्रकाश मिलता रहता है । प्रभुके नित्य-चिन्तनसे उनके हृदयमें भगवान्‌की दिव्य ज्योति सदा जगमगाया करती है । वे कभी मन-मानी वस्तु पाकर या सफलतासे प्रमत्त होकर कर्तव्यच्युत नहीं होते; क्योंकि किसी नयी वस्तुको पानेके लिये उनके मनमें अभिलाषा ही नहीं रहती । वे तो प्रभुके सेवक हैं, व्यापारी नहीं ! भगवान्‌की शक्तिसे उनकी शक्ति, भगवान्‌के ज्ञानसे उनका ज्ञान, भगवान्‌के प्रेमसे उनका प्रेम, भगवान्‌की दिव्य बुद्धिसे उनकी बुद्धि सदा शक्ति, ज्ञान, प्रेम और विवेक पाती रहती है । अतएव वे कर्मयोगी अत्यन्त कुशलता, अदम्य उत्साह, अतुल तेज, विमल विवेक, अपार शान्ति, अमित आनन्द और अलौकिक प्रेमके मूर्तिमान स्वरूप बने हुए भगवान्‌के लिये सदा उल्लाससहित कर्म किया करते हैं । वे कर्म, अकर्म और विकर्मके तत्त्वको समझकर ही कर्म करते हैं, इसीसे उनके कर्ममें ज्ञान, भक्ति और समता—तीनोंका संयोग रहता है, जो आसक्ति, कामना और राग-द्वेषादि वैरियोंके वशमें होकर बिना जीते हुए मन-इन्द्रियोंसे कर्म करनेवाले कर्मवादीके लिये कभी सम्भव नहीं है । सात्त्विक कर्ताका लक्षण भगवान् (गीता १८ । २६में) बतलाते हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥

'आसक्तिसे रहित, अनहंवादी, धैर्य और उत्साहसे युक्त, सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित कर्ता सात्त्विक कहा जाता है ।'

गीताने तो इस सात्त्विकतासे भी ऊपर उठनेका आदेश किया है; क्योंकि सत्त्वगुण भी जीवको बाँधता है । (यद्यपि सत्त्वगुणका बन्धन जाग्रत् और प्रयत्नशील रहनेपर बन्धन काटनेवाला ही होता है ।) इसीसे भगवान्‌ने कहा—**'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !'** अर्जुन ! तू तीनों गुणोंसे रहित हो जा । गीताके कर्मयोगीके द्वारा गुणातीत होनेपर भी लोकसंग्रहार्थ कर्म होते हैं । इस बातको भगवान्‌ने तीसरे अध्यायमें स्वयं अपना उदाहरण देकर बहुत अच्छी तरह समझाया है और निरन्तर निष्कामभावसे भगवदर्थ कर्म करनेकी आज्ञा दी है । और अन्तमें उस निष्काम कर्मसे ही शाश्वतपदकी प्राप्ति बतलायी है । भगवान् कहते हैं—

'मेरा आश्रयी होकर निष्काम-कर्मयोगी पुरुष समस्त कर्मोंको करता हुआ ही मेरी कृपासे सनातन अव्यय पदको प्राप्त करता है अतएव सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पित करके मेरे परायण हो समत्व-बुद्धिरूप कर्मयोगका अवलम्बन करके हे अर्जुन ! तू निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाला हो (गीता १८ । ५६-५७) ।'

जो लोग वास्तवमें कर्मयोगका आश्रय लेकर भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते हुए ही भगवान्‌के आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मका—स्वधर्मका आचरण करें । भगवान्‌ने 'गैरंटी' देते हुए कहा है कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(गीता ८। ७)

'अर्जुन! इसलिये सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करता हुआ ही युद्ध (स्वधर्म-पालन) कर। इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धि अर्पण करनेसे तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

ऐसे ही मनसे भजन करते हुए भगवदर्थ कर्म करनेवाले योगियोंको भगवान्‌ने (गीता ६। ४७ में) सबमें श्रेष्ठ बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'समस्त योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् पुरुष मुझमें अन्तरात्माको लगाकर निरन्तर मुझे भजता है, वही योगी मेरे मतमें परम श्रेष्ठ है।'

गीताके इस निष्काम कर्मयोगसे आधुनिक राग और कामनामय कर्मवादमें महान् अन्तर है, इसे समझकर हमें अपने ही कल्याणके लिये गीतोक्त निष्कामकर्मयोगका पालन करना चाहिये।

वैष्णव आगमोंमें निष्काम कर्मयोग

(लेखक—डॉ० श्रीसियारामजी सक्सेना 'प्रवर', एम्० ए० (अंग्रेजी-हिंदी), साहित्यरत्न)

[गताङ्क २, पृष्ठ-संख्या १६ से आगे]

सभक्ति निष्काम कर्मयोग

सात्वततन्त्र (नारदपञ्चरात्र) के अनुसार भक्ति तीन प्रकारकी होती है—(१) निर्गुण ज्ञानमयी, (२) कर्मजा और (३) प्रेमा।[1] मन, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंसे भगवान्‌की सेवा करना, अर्थादिकका भगवत्सेवामें लगा देना, भक्तोंका आदर करना और चातुर्वर्ण्यकी सीमामें आबद्ध न रहकर सभीकी सेवा करना 'कर्मजा' भक्ति है। इन साधनोंसे परमपुरुष कृष्णमें स्वाभाविकी रति तथा भागवती भक्ति शीघ्र ही हो जाती है।[2] इस प्रकार मुक्ति-प्राप्तिके लिये कृष्ण-सेवा प्रशस्त है।[3]

सकाम-निष्काम कर्मका भेद साधनोंसे नहीं, फलसे होता है। सकाम लौकिक फल देता है, निष्काम कर्मसे नित्य, मोक्षाधिक फल प्राप्त होता है।[4] हरिजन-संगसे अरसज्ञ भी महान् रसज्ञ और कर्मबन्धनसे विमुक्त हो जाता है; क्योंकि वह अमल आत्मा भगवान्‌की परमाभक्ति प्राप्त कर लेता है, जिसे जानकर पुरुष अन्य फल तो क्या, किसी मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करता। निष्कामी विष्णुभक्त हरिको हृदयमें अङ्कितवत् देखते हैं। यही उनकी आनन्दमयी उत्तम मुक्ति है।[5]

वैष्णवागमोंमें कर्मयोग भक्ति-परक हो गया है। ज्ञान उसका मूल है, भक्ति उसका फल या लक्ष्य। परमसंहिता और बृहद् ब्रह्मसंहिता आदिमें ऐसे कर्मयोगका अच्छा व्याख्यान हुआ है।

परमसंहिताका मत है कि सब ज्ञानोंमें योग ही विशेष है। योग-ज्ञानसे ही परम सुख कैवल्य प्राप्त होता है।[6] जो विषयमें चित्तका अनाकुल-असंक्षोभ समाधान कर दे, वह योग है।[7] योग दो प्रकारका

१—सात्वततन्त्र ४। १५। २—सा० तं० ४। २३—३२। ३—सा० तं० ३। ५१—५४। ४—सा० तं० ४। ४१—४२। ५—सा० तं० ८। ३४—३८। ६—परम संहिता १०—२। ७—प० सं० १०। ५—६।

है—ज्ञानयोग और कर्मयोग। ज्ञानयोग ध्यान-प्रधान है, कर्मयोग यम-नियमके आधारपर होता है।' दोनों योगोंका लक्ष्य चित्तका परमात्मामें निबन्धन है। दोनों ही चित्तको व्यथामुक्त करते और विष्णुपद प्राप्त कराते हैं।' 'कर्मयोग और ज्ञानयोगमें कौन प्रशस्त है?'—ब्रह्माके इस प्रश्नके उत्तरमें कहा कि यह मनुष्यकी प्रवृत्तिपर निर्भर है; जो व्यक्ति कर्ममें ही लीन हैं, वे ज्ञानयोगकी साधना नहीं कर सकेंगे। इसी प्रकार जो बुद्धि-प्रधान हैं, उन्हें कर्मयोग कष्टकर लगता है। दोनों ही योगोंसे भगवद्विषयक मति प्राप्त होती है और विष्णु प्रसन्न होते हैं।[८]

मुक्तिमें जीव और परका भेद नहीं रहता। अतः मुक्तिकी इच्छा करते हुए विष्णुकी ही मन-वाक्-कायसे, निष्कामभावसे, उपासना करे। फलके अनाकांक्षी कर्मयोगीको भगवान् ज्ञान प्रदान करते हैं। ज्ञान-वृद्धि होनेपर पूर्वकृत कर्म क्षीण होते हैं और कर्मक्षय होनेपर आत्मा विशुद्ध होकर निर्वाण प्राप्त करती है।[९]

पारमेश्वरसंहितामें निष्कर्मताकी विधि कुछ भिन्न है। उसके अनुसार निष्कामभावसे ज्ञान, ज्ञानसे भक्ति और भक्तिसे निष्कर्मता होती है। प्रभुकी प्रीतिके लिये निष्कामभावसे काम करनेपर लोक-लोकान्तरके भोग प्राप्त होते हैं। फिर विष्णुलोकमें शतकल्पतक रहकर वह भक्त फिर जब मनुष्यजन्म प्राप्त करता है, तब वह सर्वथा अज्ञानरहित होता है और ऋक्के अभ्याससे उसमें बुद्धितत्त्व प्रबुद्ध हो जाता है। वह मनसा-वाचा-कर्मणा नारायण-परायण हो जाता है।[११]

परमात्माके लिये ही कार्य करता हुआ वह परब्रह्मत्व प्राप्त कर लेता है। उसकी साध्वी पति-परायणा पत्नी भी उसीके साथ जाती है और सती अरुन्धती आदिके मध्यमें प्रतिष्ठित होकर देव-नारियोंकी पूज्यता प्राप्त करती है। ऐसे भक्तका अनुमोदन करनेवाले व्यक्ति भी इष्टापूर्तजन्य फल तथा परमगति प्राप्त करते हैं। समस्त बन्धुजनोंका भी उद्धार हो जाता है[१३]।

माहेश्वरतन्त्र रसमयी स्थितिमें नैष्कर्म्यका संयोग दिखाता है। उसका संक्षेपमें मत यह है। सत् और असत् कर्म त्रिविध—प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण—होते हैं। संचित और क्रियमाण कर्मोंका नाश तो श्रुति-वचनानुसार स्वरूप-ज्ञानसे हो जाता है, किंतु प्रारब्धका नाश भोग बिना नहीं होता। **'कर्मणां भोगतः क्षयः'**— यह शास्त्र-सिद्धान्त है।[१४]

इसपर पार्वती यह शङ्का उठाती हैं कि स्वरूप स्मरण होनेपर भी प्रारब्धके विद्यमान रहनेपर, उन्हें बिना भोगे ही, गोपियाँ भगवल्लीन कैसे हो गयीं, जिन्होंने जगत्‌में सदसत् सब कर्म किये थे? शिव इस शङ्काका समाधान इस प्रकार करते हैं कि उनके संचित और क्रियमाण तो नष्ट हो गये थे और वे अपनी देहोंको विरहाग्निमें आहुत करके, उन्हें पञ्चभूतोंमें मिलाकर, वे तैजस वायुमें स्थित होकर, प्रारब्धसहित ही ब्रह्मलोकमें चली गयीं। ब्रह्मलोकके निकट तीव्र पवन बहता है। उससे उनके वपु काँपे। उस देह-कम्पनसे प्रारब्ध-पंक्तियाँ ऐसे झड़ गयीं जैसे वृक्षोंसे पुष्प। तब कर्म-सम्बन्ध-रहित, 'उज्ज्वल' होकर उन्होंने वैकुण्ठमें प्रवेश किया। इस प्रकार पाप-पुण्यको क्षीणकर वे वैकुण्ठ-विहार कर रही हैं। इसी प्रकार सात्त्विक, राजस और तामस गुणवाले भी भगवद्धाम प्राप्त कर सकते हैं। कर्म-हानिमें प्रकार-विभेद नहीं होता, सभी भक्तोंको एक समान नैष्कर्म्य प्राप्त हो जाता है। किंतु उनकी गति

८—पा० सं० १० । १० । ९—पा० सं० १० । ८-९ । १०—पा० सं० १० । ६०—६६ । ११—परमेश्वर सं० १२ । ६५—६८ । १२—पं० सं० १२ । ५१३—५२१ । १३—पा० सं० १२ । ५२२—५२६ । १४—मा० तं० २३ । १०—१३ ।

'गुणानुरूप' होती है, जिससे उनका वैकुण्ठगमन 'क्रमयोगपूर्वक' होता है।[१५]

वेदोपदिष्ट कर्मोंसे पति (भगवान्) नहीं मिलते। कर्मोंका फल तो विनश्वर स्वर्गमात्रतक ही है। दान, तप, तीर्थ, काय-क्लेश, उपवास, व्रत, जप—इनसे चित्त-शुद्धि मात्र होती है। केवलानन्दमय पति ज्ञानसे भी वश्य नहीं हैं; क्योंकि ज्ञान मुक्तिकारी मात्र है। ज्ञानकी रक्षाके लिये वैराग्य है। यदि वैराग्यमात्र हो तो उससे प्रकृतिमें लीनता तो हो जाती है, पर उससे क्या ? योगकी पराकाष्ठा भी आत्म-दर्शनतक ही है। पुराणेतिहासमें उद्घोषित भक्ति भी ज्ञानहीका अङ्ग है, उससे भी प्रभु कैसे मिलेंगे ? इसी प्रकार सभी साधनोंको निरर्थक देखकर जब साधक हृदयसे व्याकुल हो जाता है, तब वह गोपियोंकी तीव्र संवेग युक्त दर्शन कामनासे आप्लुत होकर प्रिय-चिन्ताके रसमें मग्न हो जाता है। उस समय उसे कोई जागतिक व्यवहार अच्छा नहीं लगता और न नित्य-नैमित्तिक कर्मका ही ध्यान रहता है। इस प्रकार समस्त तप, तीर्थ, व्रत, नियमादिक कर्म समाप्त हो जाते हैं और उसकी देहविषयामति नहीं रहती।[१६] फिर इस उद्वेगसे विरह-रसकी अनुभूति होती है।[१७] भगवत्प्रेम दृढ़ होनेसे भगवत्सेवा प्राप्त होती है।[१८] तब उसके साथ परम पुरुष श्रीकृष्ण अनेक रस-रूपा लीलाएँ या क्रीड़ाएँ करते हैं।[१९] लीला-रसमें भक्त और भगवान्‌का, भोक्ता और भोग्य, ज्ञाता और ज्ञेयका भेद नहीं रहता—

भोक्तृभोग्यविभागश्च ज्ञातृज्ञेयादिकं तथा।
रस एवेति विज्ञाय न मुह्यति कदाचन॥[२०]

नारदपञ्चरात्रकी सात्वतसंहिता भ्रमान्धकारको ध्वंस करनेवाली दीपिका है।[२१] इसके मतानुसार सुपक्व हरि-भक्ति भव-निगड़-निबद्धताका छेदन करनेवाली तीक्ष्ण कर्तनी है। जो भक्त हरिको अन्तर्बाह्य सर्वत्र देखता है, उसे तपकी क्या आवश्यकता है ?[२२] सुपक्व हरि-भक्ति भव-तरणके लिये तरणी (नाव) है और परब्रह्मस्वरूप गुरु कर्णधार (मल्लाह) हैं।[२३] माता गर्भधात्री, स्तनदात्री और स्नेहकर्त्री है। पिता जन्मदाता, अन्नदाता और स्नेहकर्ता है, किंतु वे पुत्रके कर्मोंका नाश करनेमें सक्षम नहीं हैं। कर्म-मूलको काटनेका कार्य तो सद्गुरु ही करते हैं।[२४] जो भी कर्म-मूल-नाशिका हरि-भक्ति प्रदान करे, वही गुरु, पिता, माता, बन्धु, पति या पुत्र है। श्रीकृष्णकी भक्ति ही सर्वमङ्गल-मूल है और कर्मोपभोगरूपी रोगोंका नाश करनेवाली औषध है। तात्पर्य यह कि भक्ति निष्काम कर्म-भावकी मूल है, प्रापिका है।[२५]

हरि-भक्तिप्रद ज्ञान ही ज्ञान है।[२६] कृष्णभक्तोंके सत्सङ्गसे ऐसी नैष्ठिकी भक्ति उपजती है, जो हरिके प्रति दास्यभाव जगानेवाली, सुखदायिनी और अनिमिता (निष्काम) होती है। हरिचरणारविन्दमें लीन हो जाना मुक्ति या निर्वाण है। यह वैष्णवोंको अभीष्ट नहीं है। सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्य—यह चार प्रकारकी भोग-रूप सुखदायिनी मुक्ति है। इन सब मुक्तियोंसे परम (उत्कृष्ट) हरिभक्तिमय दास्यभाव है, यह वैष्णवोंका अभिमत परम सार है।[२७] मोक्ष हरि-भक्तिसे उत्कृष्ट नहीं है—'हरिभक्तेः परा नास्ति मोक्षश्रेणी नगेन्द्रजे।[२८] यह निष्कामभावका चरम रूप है।

१५—माहेश्वरतन्त्र २३। १४—३९। १६—मा० तं० ३४। १०—२९। १७—मा० तं०, पटल ३६ विशेषतः श्लोक २९-३०। १८—मा० तं०, पटल ३९। १९—मा० तं० ४४। ८७। २०—मा० तं० ५१। ९०। २१—नारद पञ्च० रा० १। १। ४३। २२—ना० पं० रा० १। २। ४—७। २३—ना० पं० रा० १। २। ४७। २४—ना० पं० रा० १। ९। ८—१०। २५—ना० पं० रा० १। ९। १२-१३। २६—ना० पं० रा० २। २। १। २७—ना० पं० रा० २। ७। २—४। २८—ना० पं० रा० ४। ८। १७२।

नारदपञ्चरात्रमें मुक्तिके अनेक साधन बताये गये हैं। इनमें हरिनामजप, हरिनामकीर्तन, कृष्णार्पण कर्म, गुरु-कृष्ण-पूजा, माता-पिता-गुरुकी सेवा, इन्द्रिय-निग्रह, संन्यास, पञ्चरात्र-श्रवण तथा (स्त्रियोंके लिये) पति-सेवा-व्रत प्रमुख हैं।[२९] ध्यातव्य है कि ये सब कर्म निष्काम कर्म ही हैं। मुक्तिकारी नैष्कर्म्य-प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सबका मूल है अपने सभी कर्मोंको भक्तिपूर्वक अर्थात् निष्कामभावसे भगवान्‌को अर्पित कर देना। इससे कर्मोंका समूल उच्छेद हो जाता है—

यद्यत् कृतं सतां कर्म कृष्णे भक्त्या तदर्पणम्।
कर्मनिर्मूलनं तच्च स्मरणं मुक्तिकारणम्॥[३०]

गीताके कर्मयोग और निष्कामकर्मोंका वास्तविक रहस्य क्या है ?

(डॉ० श्रीशुकरत्नजी उपाध्याय, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्याचार्य)

[गताङ्क सं० २, पृष्ठ-सं० २९से आगे]

(३)

योगः कर्मसु कौशलम्

गीता कर्म, विकर्म और अकर्मके भेदसे भी कर्मका विवेचन करती है। शास्त्रानुमोदित स्वधर्म ही कर्म है, शास्त्रविपरीत कर्म 'विकर्म' और कर्मका अभाव—कोई भी चेष्टा न करना 'अकर्म' है। यज्ञ-दान तथा तप ये कर्म त्याज्य नहीं है, इन्हें करना ही चाहिये—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
(गीता १८।५)

कर्तव्य-रूप स्वकर्म ही जब धारण किया जाता है, तब सम्यक् अनुष्ठित वह कर्म (धर्म) ही प्राणीकी रक्षा तथा उन्नति करनेमें सहायक होता है।

जिन पुरुषोंमें जिस गुणकी अधिकता होती है, उसीके अनुसार उनके कर्म होते हैं। कोई बुद्धिप्रधान तथा शान्त होता है। कोई कठोरकर्मी तथा पराक्रमी, कोई संग्रहशील तथा सहिष्णु और कोई आलस्य तथा प्रमादमें ही निमग्न रहता है। सर्वकर्म-फलप्रदाता ईश्वर उस प्रकृतिके अनुसार उन्हें जन्म तथा फल प्रदान करता है। ईश्वरार्थ तथा फलासक्तिरहित होकर करनेसे सभी कर्म तप हो जाते हैं। वे तप बन्धन नहीं बनते। अपने-अपने कर्मसे सभी वर्णके पुरुष फल प्राप्त करते हैं। तपसे कल्मषविनाश, पुण्य-संचय, अन्तःकरण निर्मल, ईश्वर-प्रेमका आविर्भाव, आत्मज्ञानमें स्थिति और अन्तमें मुक्ति अथवा भगवत्-प्राप्ति होती है। इस प्रकार फलमें सभी कर्म समान हैं। अतः ब्राह्मणादि सभी जातियोंमें नीच-ऊँचका कोई प्रश्न ही नहीं उठता, न कर्म-भेदका। आवश्यकता है, उसके रहस्यको जाननेकी और राग-द्वेषरहित तथा फलासक्ति-त्यागपूर्वक स्वकर्मानुष्ठानकी। गीतोक्त कर्मका लक्ष्य त्याग है। इस कारण पहले कर्म-फल-त्याग करना चाहिये, पुनः राग-द्वेष, आसक्ति-त्याग और सिद्धि-असिद्धिमें समताकी स्थिति प्राप्त करनी चाहिये। तभी कुशलतापूर्वक सम्यक् कर्मानुष्ठान हो सकता है—'योगः कर्मसु कौशलम्'। बिना स्वार्थके भी तो कुछ करना सीखो। वही योगरूप कौशल होगा।

यद्यपि सामान्यतया कामना ही सभी कर्मोंका मूल है। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थके लिये ही कर्म करता है। जिसका 'स्व' पुत्र, पत्नी-मित्रादिमें सीमित है, वह इनके उद्देश्यसे कर्ममें संलग्न है। कोई जाति तथा समाज-कल्याणार्थ कर्ममें रत है; क्योंकि उसका 'स्व' जाति तथा समाजमें

२९—ना० पं० रा० २।७।५।५०। ३०—ना० पं० रा० २।७।३४।

केन्द्रित है। इसी प्रकार जिसका 'स्व' देश तथा विश्व-पर्यन्त व्यापक है, वह देश तथा विश्वहितमें ही कर्म करता है। ईश्वरके प्रति समर्पणकी भावनासे, ईश्वरके निमित्त अथवा त्यागपूर्वक जो कर्म किये जाते हैं, वे कर्म निष्काम कहे जाते हैं। इससे ईश्वरकी प्रसन्नतासे प्रसन्नता होती है। ईश्वरसे अन्तःकरण प्रकाशित होता है। उस प्रकाशमें अखण्ड बुद्धिकी प्राप्ति होती है। इसलिये जो चतुर हैं, वे कर्म-फलसे अपना मन हटाये रहते हैं। बुद्धिमें समत्वभाव और कर्म करनेकी कुशलयुक्ति कर्मयोग शास्त्रकी दो आँखें हैं। जब कर्मका कारण 'कामना' तथा कर्मका कार्य 'फल' इन दोनोंमें बुद्धि निर्विकार समभावमें स्थित रहती है, तब कर्म निर्जीव हो जाता है। कामनामें और फलमें समत्व होनेसे मध्य कर्म भी समत्वकी कड़ीसे बँध जाता है। कर्म वास्तवमें न बन्धनकारक है और न मुक्तिप्रदायक। राग-द्वेष, धनकी आशासे कर्म करनेसे बन्धन होता है, वे ही कर्म ईश्वरप्रसन्नार्थ समर्पण-बुद्धिपूर्वक करनेसे क्रमशः मुक्तिप्रदायक होते हैं। कर्तव्य-कर्मसे ही ज्ञानभूमिका निर्माण होता है। विना कर्मारम्भ किये मनुष्य निष्कर्मभाव भी नहीं प्राप्त कर सकता।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
(गीता ३। ३)

फलकी इच्छा छोड़कर किया हुआ कर्म ही 'योग' कहलाता है। कर्मफलको ही सब कुछ माननेवाले दृष्टिकोणसे लोगोंको मुक्त किया जाय। हमारी शक्तिकी सीमा जिस कर्म तक है, हम उसे छोड़कर बैठे रहनेका भाव कभी मनमें न लायें! ऐसा करनेसे कर्म और कर्मफल दोनों ही हमारे हाथसे निकल जायँगे। निष्काम कर्मका अर्थ निरुद्देश्य कर्म करना भी नहीं है। कर्म तो उद्देश्यसे युक्त ही होगा किंतु उद्देश्यका निश्चय समत्वबुद्धिसे ही किया जाना चाहिये। इसीलिये कहा गया है कि बुद्धियुक्त कर्मसे उत्पन्न फलको त्यागकर कर्म-बन्धनसे मुक्ति प्राप्त होती है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
(गीता २। ५१)

श्रीकृष्ण भी कर्म करना नहीं छोड़ते—इसलिये आप्त पुरुषोंको भी लोकादर्श और लोकहितको दृष्टिमें रखते हुए प्रमादरहित होकर सम्बद्धताके साथ सामाजिक लोकव्यवस्थाके कार्योंमें रत रहना आवश्यक है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे अपने लिये कुछ भी करणीय और प्राप्त करनेके लिये कुछ भी न होते हुए भी मैं तत्परताके साथ सदा कर्ममें रत रहता हूँ; क्योंकि अर्जुन! यदि मैं ऐसा न करूँ तो जनता मेरा अनुकरण करती हुई अकर्मण्य और प्रमादी होकर कर्मपथसे भटक जायगी (गीता ३। २३)। वह समाजके लिये एक सर्वथा अप्रशस्त और अवाञ्छनीय आदर्श होगा। यदि न्यायकी रक्षाके प्रति भी कर्तव्यहीनता और उपेक्षाकी वृत्ति समाजमें व्याप्त हो जाय तो अत्याचारियोंका बोलबाला होकर मानव-समाजमें भयंकर अव्यवस्था फैल जायगी। इस कर्तव्यभ्रष्टतासे सारा समाज ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। अपने सब कर्मोंको त्रिभुवननाथके प्रीत्यर्थ यज्ञ बना देना, अपने समस्त संकल्पोंको अखिल ब्रह्माण्डके परम अधीश्वरके अधीन कर देना और अपनी सारी उपासना और आकाङ्क्षाको उनकी भक्तिका साधन बना देना—यही एक पथ है, जिससे मनुष्य इस सांसारिक जीवनसे ऊपर उठकर भागवत-जीवनको प्राप्त हो सकता है। जीव जब अपने अहंकार और कर्मोंको भगवान्‌को समर्पित कर देता है, तब भगवान् स्वयं चले आते हैं और हमारा बोझ उठा लेते हैं। उनका द्वार खुल जाता है और वे अपनी विशाल भुजाओंके समालिङ्गनमें हमें बाँध लेते हैं।

कर्मयोग क्या है ?—किसी वस्तुमें गाँठ भी क्रियाके द्वारा ही लगायी जाती है और उस गाँठको खोलना हो तो भी क्रिया ही करनी पड़ती है। बिना क्रियाके गाँठ खुल भी नहीं सकती। गाँठ लगानेवाले कर्म (फलासक्तियुक्त कर्म) कहलाते हैं, और खोलनेवाले निवृत्तिकर्म (निष्काम कर्म) हैं—पर हैं दोनों ही कर्म। कर्म करनेकी ऐसी चतुरताको ही योग कहते हैं कि मनुष्य कर्म करता भी जाय और उसके बन्धनमें भी न फँसे। काजलकी कोठरीमें जाकर भी बिना कालिख लगे निकल आना बड़ी भारी चतुरता है। सांसारिक फलोंमें मत फँसो और कर्मोंके फलोंसे डरो भी मत। फल-प्राप्तिकी कामना छोड़कर कर्म करनेसे ज्ञानमार्गियोंके सिद्धान्तमें चित्त-शुद्धि होती है। उपासक-सम्प्रदायोंके सिद्धान्तानुसार भगवदाज्ञाका पालन होता है, जिससे भगवान् प्रसन्न होकर बन्धनसे मुक्त कर देते हैं और कर्मयोगियोंके सिद्धान्तानुसार लोकसंग्रह होता है, किंतु चित्तशुद्धि भगवदाज्ञा-पालन आदिकी इच्छा नहीं करनी पड़ती; वे कर्मोंके द्वारा स्वतः ही सम्पन्न हो जाते हैं। वस्तुतः तीनोंका परस्पर समीचीन सम्बन्ध है।

अर्जुन पुरुष हैं, भगवान् पुरुषोत्तम हैं। हम धनुर्धारी अर्जुनकी तरह पौरुष करें, अपना पुरुषार्थ दिखायें और फल पुरुषोत्तमपर छोड़ दें। पुरुषोत्तम हमारे रथपर सारथी होकर बैठते हैं। वे मनुष्यके जीवन-रथके सनातन सारथी हैं। हम विश्वासपूर्वक अपने जीवनकी बागडोर उनके हाथोंमें सौंप दें और निश्चिन्त तथा निर्भय होकर कर्तव्यके जीवन-पथपर आगे बढ़ते रहें। पुरुषोत्तमकी करुणा और जीवात्माके लिये आशाका यह कितना अद्भुत संदेश है ! यहाँ आज्ञा देनेवालेका नाम भगवान् नहीं, आज्ञा पालन करनेवालेका नाम भगवान् है।

जीवन प्रतिपल चुनौती है, जो उसे स्वीकार नहीं करता वह जीते-जी ही मर जाता है। जीवनकी चुनौती यदि हमें वहाँ ले जाय, जहाँ युद्ध फलित हो, तो अपने कार्योंके फलको भगवान्‌के हाथोंमें सौंपकर हमें उनके लिये भी तैयार रहना चाहिये; क्योंकि सत्य चाहे कितना भी सुन्दर, श्रेष्ठ, निर्भ्रान्त और लोकोपकारी हो, किंतु वह तबतक धूमिल बना रहेगा और पराभूत होता रहेगा, जबतक उसको कार्यान्वित करनेवाले बलिष्ठ और साहसी लोग प्राणोंको हथेलीपर लेकर आगे नहीं आयेंगे। इसीलिये कहा है—**'मामनुस्मर युध्य च'** (गीता)।

निष्कामकर्म क्यों ?—यह शङ्का व्यर्थ है कि निष्काम-भावकी बात करेंगे तो हम कर्म करना ही छोड़ देंगे; क्योंकि कर्म तो मनुष्यको अपने स्वभावके अनुसार करने ही होंगे, यदि वह उन्हें निष्कामभावसे करता है तो उसे शान्ति, संतोष तथा विश्राम मिलेगा; यदि वह उन्हें सकामभावसे करेगा तो उसके जीवनमें बेचैनी असंतोष, व्याकुलता तथा अशान्ति आ जायगी; क्योंकि सकाम-भावना एक ज्वर है—बुखार है, तभी तो अनुकूल फल न मिलनेपर मनुष्य विक्षिप्त—अधीर हो जाता है। इस ज्वरसे मुक्त होनेका एक ही उपाय है—जीवनमें निष्कामताको लाना। जब इच्छित फल प्राप्त करना हमारे हाथमें नहीं है, तब फिर असंख्य कर्म-फल तथा करणोंका समन्वय करनेवाले पुरुषोत्तमपर ही फलका उत्तरदायित्व छोड़कर हम उसीके सामने सिर झुकाकर निश्चिन्त क्यों न हो जायँ; क्योंकि केवल बौद्धिक प्रेरणाके आधारपर निष्कामभावसे कर्म, जड़ यान्त्रिक प्रक्रियामें तो सम्भव है, किंतु केवल कर्तव्य-बुद्धि मनुष्यके हृदयको रसाप्लावित नहीं कर सकती; कर्म करते हुए व्यक्तिको जिस उत्साह और आनन्दकी अनुभूति होती है, वह फल-प्राप्तिकी आशासे ही सम्भव है। उसका निषेध कर देनेपर कर्म करनेका उत्साह ही समाप्त हो जायगा या कर्मको भारकी तरह ढोना होगा। इसका निराकरण समर्पणयोगके माध्यमसे

ही सम्भव है। जब कर्म प्रभुसमर्पित-भावना तथा ईश्वरानुभूतिके प्रकाशमें किये जाते हैं—जगत्में भगवान्को और भगवान्में जगत्को देखते हुए किये जाते हैं तो वे अपने-आपमें ही ज्ञान-ज्योतिके प्रवाह बनकर निष्काम होते चले जाते हैं। प्रभुके प्रति समर्पणकी भावनासे किये गये कर्मोंमें अद्भुत आनन्दकी अनुभूति होती है। भोजनको सुस्वादु बनानेकी प्रेरणा व्यक्तिको तभी होती है, जब या तो वह स्वयं स्वादु-लोलुप हो या अपने किसी प्रिय व्यक्तिको खिलानेकी उसे इच्छा हो। भोजनको केवल बाध्यता समझकर बनानेपर उसमें स्वाद और रसानुभूतिकी सम्भावना नहीं हो सकती। इसीलिये निष्काम कर्मयोगके बाद भगवान् कृष्ण अर्जुनको कर्मार्पणका उपदेश और आदेश देते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९। २७)

निष्कामभाव कैसे ?—प्राकृतिक जगत्में विविध फूल खिलते हैं, नदियाँ बहती हैं, वर्षा होती है, सूर्य प्रकाश फैलाता है—ये सब कर्म स्वाभाविक रूपमें निष्काम भावसे हो रहे हैं। मानवीय जगत्में भी कर्म हो रहा है, परंतु मनुष्य प्रकृतिके साथ एकरसता बनाये रखनेके स्थानमें अपने कर्ममें कामनाका, वासनाका, इच्छित फलका काँटा लगा लेता है। आसक्तिकी अधिकतासे व्यक्ति स्वयं अपने लिये तो दुःखकी सृष्टि करता ही है, दूसरोंके लिये भी समस्या बन जाता है। वह येनकेन प्रकारेण वस्तुओंके संग्रहमें जुटकर स्वार्थका संघर्ष प्रारम्भ कर देता है जिससे स्वयं इनपर अधिकार चाहनेवाला व्यक्ति भी सुखी नहीं रह सकता। कामनाएँ छूट जानेपर कर्म तो चलता ही रहता है; क्योंकि वह मनुष्यका स्वभाव है, केवल बुरे कर्म छूट जाते हैं; क्योंकि किसी भी प्रकारके बुरे कर्म वासना अथवा कामनाके बिना हो ही नहीं सकते।

स्वभावसे ही प्रवाहित होनेवाले प्रकृतिके कार्योंकी तरह मनुष्यके काम भी बिना कामनाके स्वभावसे ही प्रवाहित क्यों नहीं किये जा सकते ? डॉक्टर रोगकी चिकित्सा करता है, रोगी मरता जा रहा है, डॉक्टर रोता नहीं। मुवक्किल हार जाता है, किंतु वकील परेशान नहीं होता, खिलाड़ी खेल हार जानेपर भी खिल-खिलाकर हँसने लगते हैं। निष्काम-भावकी इसी स्थितिको जीवनमें भी व्यापक क्यों नहीं बनाया जा सकता ? मैं कुछ नहीं सब कुछ तेरा ही है, यह स्वार्थ-रहित, त्यागमय यज्ञीय भावना जब जीवनमें जगमगा उठती है, तब जीवनमें निश्चित ही निष्काम-भाव आने लगता है। छोटी-छोटी बातोंको इतना मत पकड़ो कि बड़े उद्देश्य छूट जायँ। निष्कामता स्वयंमें एक महान् उद्देश्य है।

निष्काम-भाव कब आ सकता है ?

मनुष्यमें जितनी बुराइयाँ आती हैं, सब निकम्मेपनसे आती हैं। निकम्मापन बुराइयोंका घर है। निष्कामता और निष्कर्मण्यतामें अन्तर है। एक उपादेय है, दूसरी हेय।

कर्मयोग कहता है कि कर्म करो और फलको छोड़ो अर्थात् कर्म ऐसी कुशलतासे करो कि फलकी वासना चित्तको न छुए। जो कर्मके परिणामसे बच जाय, वही बुद्धिमान् है, परंतु क्या कर्मयोगका यह अर्थ है कि कर्म करके फलको फेंक दिया जाय ? कर्म किया है तो फल तो मिलेगा ही, उसे फेंका कैसे जा सकता है ? 'फलकी आसक्ति' को छोड़ देना भी कोई हँसी-खेल नहीं है। जबतक इन्द्रियाँ विषयोंमें भटकती रहेंगी, उनमें रस लेती रहेंगी, तबतक आसक्ति कैसे छूट सकती है ? विषयोंका रस हमें हर समय फल पानेके लिये ललचाता रहेगा। जो प्रकृतिके साथ नाचने लगता है, प्रकृति उसे पददलित कर देती है।

इन्द्रियोंके भोग तो थोड़ी देर बाद चले भी जायँगे, किंतु कपड़ोंमें बसी फूलोंकी सुगन्धिकी तरह मनमें उनका गहरा संस्कार बना रहेगा। उसी संस्कारके कारण चञ्चल मन इन्द्रियोंको मथता रहेगा। जहाँ कहीं भी स्वार्थ है, वासना है, वहीं फलकी आशा है और वहीं आसक्ति आकर उपस्थित होती है। आसक्तिमें बँधे हुए अधिकतर लोगोंकी मनोवृत्ति है कि हम चाहे जितनी चोरी-बेईमानी करें, किंतु संसारका दूसरा कोई हमारी चोरी न करे, बेईमानी न करे। हम भले सबसे झूठ बोल लें, पर दूसरा हमसे झूठ न बोले। यह एक विचित्र बात है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला झूठा, चोर, बेईमान रहकर नियमोंको तोड़ना चाहता है और पूरे संसारको सच्चा ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ देखना चाहता है। क्या कोई चोरी, बेईमानी, मिलावट निष्काम-भावसे भी कर सकता है? कर्मफलोंकी लालसाका परित्याग करनेके लिये आत्मतृप्त होना आवश्यक है, **'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'**;—हमारी सम्पूर्ण चेष्टा और खोज, शान्त, तृप्त और परिपूर्ण हो सकती है, यदि हम आत्मापर पड़े पर्देको फाड़ सकें। इसलिये फलासक्ति छोड़नेके लिये पहले हमें इन्द्रियोंकी दासता, स्वार्थ-भावना और देहासक्तिसे मुक्त होकर समबुद्धिसे परमात्माके प्रति अखण्ड विश्वास और प्रेमको जगाना होगा, तभी हम अपने उद्देश्यको पा सकते हैं, अन्यथा नहीं। इन्द्रियोंको केवल भोग नहीं, त्यागका अभ्यास भी होना चाहिये, अन्यथा जिंदगीकी सड़कपर हम ठीक तरहसे नहीं चल सकते। मोटर-ड्राइवरको मोटर चलाना ही न आता हो, ब्रेक लगाकर रोकना भी आता हो; जिसे ब्रेक लगाना नहीं आता, उसे मोटर चलानेका अधिकार नहीं है।

पुरुषका काम है प्रचण्ड पुरुषार्थ करना और बुद्धिमत्ता है—फल पुरुषोत्तमके चरणोंमें समर्पित कर देना—अपनी बहिर्मुखी वासनाओं, अपने प्रमादशील संकल्पों और चेष्टाओंको भी उन्हींके अखण्ड दिव्य संकल्पको भेंट कर देना। ऐसा करनेसे ही हम जीवनकी बहुत-सी विकृतियों, दुष्ट प्रेरणाओं तथा कर्म-बन्धनोंकी जटिलताओंसे बचकर असाधारण कार्य करने तथा महान् उद्देश्य पानेमें समर्थ होकर जीवनको सार्थक बना सकते हैं, यही गीताके कर्मयोगका रहस्य है।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

'जिसे अध्यात्मशास्त्रमें ज्ञान-कर्म-समुच्चय-पक्ष, फलाशात्याग अथवा ब्रह्मार्पणपूर्वक कर्म कहते हैं (गी० ४। २४, ५। १०, १२। १२) उसीको भक्तिमार्गमें 'श्रीकृष्णार्पणपूर्वक कर्म' यह नया नाम मिल जाता है। भक्तिमार्गवाले भोजनके समय 'गोविन्द, गोविन्द' कहा करते हैं, उसका रहस्य इस कृष्णार्पणबुद्धिमें ही है। ज्ञानी जनकने कहा है कि हमारे सब व्यवहार लोगोंके उपयोगके लिये निष्काम-बुद्धिसे हो रहे हैं, और भगवद्भक्त भी खाना, पीना इत्यादि अपना सब व्यवहार कृष्णार्पणबुद्धिसे ही किया करते हैं। उद्यापन, ब्राह्मण-भोजन अथवा अन्य इष्टापूर्त कर्म करनेपर अन्तमें 'इदं कृष्णार्पणमस्तु' अथवा 'हरिर्दाता-हरिर्भोक्ता' कहकर पानी छोड़नेकी जो रीति है, उसका मूलतत्त्व भगवद्गीताके *'यत्करोषि'* श्लोकमें है।'

(कर्मयोगशा० पृ० ४३१)

गीताका कर्मयोग—२०

[श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(लेखक—श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क २, पृष्ठ-संख्या २६से आगे]

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

भावार्थ—उस (कर्मयोगसे सिद्ध हुए) महापुरुषका इस संसारमें न तो कर्म करनेसे अपना कोई प्रयोजन रहता है और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा उसका किसी भी प्राणी-पदार्थादिसे किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।

मनुष्य जबतक कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छा रखता है, तभीतक वह कुछ क्रियाओंके करनेसे, कुछके न करनेसे तथा किसी प्राणी-पदार्थादिसे अपना प्रयोजन रखता ही है, किंतु जो सर्वथा निष्काम है उनका इन तीनों- (करने, न करने तथा प्राणी आदि-) से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

कर्मयोगसे सिद्ध इस महापुरुषका जीवन सार्थक हो गया है अर्थात् जिस प्रयोजनके लिये मनुष्य-शरीर मिला था, वह प्रयोजन उसके द्वारा सिद्ध हो गया। ऐसे महापुरुषके शरीरद्वारा स्वाभाविक ही लोकसंग्रहार्थ कर्म होते हैं, अपने प्रयोजनको लेकर बिलकुल नहीं।

अन्वय—

तस्य, इह, न, कृतेन, कश्चन, अर्थः, न, अकृतेन, एव, च, सर्वभूतेषु, अस्य, कश्चित्, अर्थ, व्यपाश्रयः, न॥ १८॥

पद-व्याख्या—

तस्य—उस (१७वें श्लोकमें वर्णित कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुष) का।

इह—इस संसारमें।

उस महापुरुषके लिये इस मृत्युलोकमें कुछ भी करना शेष नहीं रहता। करने, न करनेका प्रश्न केवल इस लोकमें मानव-शरीरमें ही रहता है।

न कृतेन कश्चन अर्थः—न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है।

प्रत्येक मनुष्यकी कुछ-न-कुछ करनेकी प्रवृत्ति होती है, जब यह करनेकी प्रवृत्ति किसी सांसारिक कामनाके कारण होती है, तबतक उसका अपने लिये 'करना' शेष रहता ही है। अपने लिये कुछ-न-कुछ प्राप्त करनेकी इच्छासे मनुष्य बँधता है। इस इच्छाकी निवृत्तिके लिये कर्तव्य कर्म करनेका प्रश्न होता है। अतः चाहनाकी निवृत्तिके लिये अवश्यमेव कर्तव्य कर्म करने चाहिये। किंतु जो पूर्ण निष्काम है, जिसे संसारकी कोई कामना नहीं है, उसका किसी भी कर्तव्य-विशेषसे सम्बन्ध नहीं रहता। उसके द्वारा निःस्वार्थ-भावसे समस्त सृष्टिके लिये स्वतः ही कर्तव्य कर्म होते हैं। **'न कृतेन इह कश्चन अर्थः'** इसका अर्थ यह बिलकुल नहीं समझना चाहिये कि वह सर्वथा निष्क्रिय हो जाता है। यदि यही अर्थ अभिप्रेत होता तो भगवान् इसके तुरंत बाद **'न अकृतेनेह कश्चन'** यह क्यों कहते? अतः निष्क्रियताका अर्थ यहाँ नहीं लिया जा सकता। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहीं भी कर्मोंको स्वरूपसे त्याग करनेकी बात नहीं कही, बल्कि कर्म करनेपर ही विशेष जोर दिया गया है (गीता ३। २५ एवं ३। २९)।

इस प्रकार कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषका कर्मोंसे अपने लिये (व्यक्तिगत सुख-आरामके लिये) कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यही भाव दिखानेके लिये यहाँ **'न कृतेन, इह कश्चन'** कहा है।

यह महापुरुष मानता है कि पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि केवल संसारसे मिले हैं, व्यक्तिगत

नहीं हैं तो इनके द्वारा केवल संसारके लिये ही कर्म करना है; कारण कि मिली हुई कर्म-सामग्रीका सम्बन्ध समष्टि संसारसे है, अपने लिये नहीं है। व्यष्टिके लिये समष्टि हो ही नहीं सकती। मनुष्यकी यही गलती होती है कि वह अपने लिये समष्टिका उपयोग करना चाहता है। इसीसे उसे अशान्ति होती है। यदि अपने शरीर, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिका समष्टिके लिये उपयोग करे तो उसको महान् लाभ प्राप्त हो सकता है। कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषमें यही विशेषता रहती है कि वह अपने कहलानेवाले पदार्थ शरीर, मन, बुद्धि आदिका उपयोग मात्र संसारके लिये ही करता है। अतः उसका शरीरादिकी क्रियाओंसे अपना कोई प्रयोजन नहीं रहता। इस प्रकार इन पदोंमें भगवान् यह बतलाते हैं कि उस महापुरुषमें (धन, मान, यश आदिकी) कोई भी कामना न रहनेके कारण उसका कर्म करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, किंतु कर्म करनेसे प्रयोजन न रहनेपर भी उस महापुरुषसे लोगोंके लिये आदर्शरूप उत्तम कर्म होते हैं। जिसका कर्म करनेसे प्रयोजन रहता है, उससे आदर्श कर्म नहीं होते—यह सिद्धान्त है।

न अकृतेन एव (कश्चन अर्थः), न कर्मोंके न करनेसे ही (कोई प्रयोजन रहता है)।

जो मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे अपना सम्बन्ध मानता है और आलस्य-प्रमाद आदिमें रुचि रखता है, वह कर्मोंको नहीं करना चाहता; क्योंकि उसका न करनेमें प्रमाद, आलस्य, आराम आदिसे उत्पन्न सुखका प्रयोजन रहता है (गीता १८। ६ तथा १८। ३९), किंतु यह महापुरुष जो सात्त्विक सुखसे भी ऊँचा उठ चुका है, वह तामस सुखमें तो प्रवृत्त हो ही कैसे सकता है; क्योंकि इसका शरीरादिसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता, फिर आलस्य, आराम आदिमें रुचि रहनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रायः साधक कर्मोंके न करनेको ही महत्त्व देते हैं। वे कर्मोंसे उपरत होकर समाधिमें स्थित होना चाहते हैं, जिसमें कोई चिन्तन भी शेष न रहे। यह बात श्रेष्ठ और लाभप्रद तो है, पर सिद्धान्त नहीं है। यद्यपि प्रवृत्तिकी अपेक्षा निवृत्ति श्रेष्ठ है तथापि यह तत्त्व नहीं है।

शरीरसे तादात्म्य होनेपर ही (शरीरको लेकर) 'करना' (प्रवृत्ति) और 'न करना' (निवृत्ति)—ये दो विभाग (द्वन्द्व) होते हैं। वास्तवमें 'करना' और 'न करना' दोनोंकी एक ही जाति है। शरीरसे सम्बन्ध रखकर 'न करना' भी वस्तुतः 'करना' ही है। जैसे **'गच्छति'** (जाता है) यह क्रिया है, उसी प्रकार **'तिष्ठति'** (बैठता है) यह भी क्रिया ही है। यद्यपि बाह्य दृष्टिसे **'गच्छति'**में क्रिया स्पष्ट दिखायी देती है और चुपचाप बैठनेमें क्रिया नहीं दिखायी देती है, किंतु सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो जिस शरीरमें 'जाने'की क्रिया थी, उसीमें अब 'बैठने'की क्रिया है। इसी प्रकार किसी कामको 'करना' तथा 'न करना' इन दोनोंमें क्रिया ही है। अतः जिस प्रकार क्रियाओंका स्थूलरूपसे दिखायी देना (प्रवृत्ति) प्रकृतिमें ही है, उसी प्रकार स्थूलदृष्टिसे क्रियाओंका दिखायी न देना (निवृत्ति) भी प्रकृतिमें ही है। जिसका प्रकृति एवं उसके कार्यसे भौतिक, आध्यात्मिक और लौकिक तथा पारलौकिक कोई प्रयोजन नहीं रहता, वह महापुरुष करने (प्रवृत्ति) एवं न करने (निवृत्ति)से कोई स्वार्थ नहीं रखता; क्योंकि जड़ताके साथ सम्बन्ध रहनेपर ही करने एवं न करनेका प्रश्न होता है। इस महापुरुषका जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, अतएव साधकको शरीर (जड़ता) से सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी ही आवश्यकता है। तत्त्व तो सदैव

ज्यों-का-त्यों विद्यमान है ही। अतएव कर्मयोगके अनुष्ठानसे सिद्ध हुए महापुरुषका जड़ता (शरीरमें अहंभाव एवं ममभाव) से किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न रहनेपर (सहज निवृत्तितत्त्वमें निरन्तर स्थित रहनेके कारण) उसका करने अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता।

च—तथा।

सर्वभूतेषु अस्य कश्चित् अर्थव्यपाश्रयः न—सम्पूर्ण प्राणियोंमें (किसी भी प्राणीके साथ) इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् उसका किसी प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि किसी प्राकृत पदार्थसे सम्बन्ध नहीं रहता।

शरीर तथा संसारसे किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध न रहनेके कारण उस महापुरुषकी समस्त क्रियाएँ स्वतः ही दूसरोंके हितके लिये होती हैं। जैसे शरीरके सभी अङ्ग स्वतः ही शरीरके हितमें लगे रहते हैं, वैसे ही कर्मयोगी स्वतः ही संसारके हितमें लगा रहता है। कर्मयोगीका भाव और उसकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ संसारके हितके लिये ही होती हैं। जैसे अपने हाथोंसे अपना ही मुख धोनेपर अपनेमें स्वार्थ (या प्रत्युपकार) अथवा अभिमानका भाव नहीं आता, वैसे ही संसारका हित करनेपर कर्मयोगीमें स्वार्थ या अभिमानका भाव आ ही कैसे सकता है?

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने सिद्ध महापुरुषके लिये कहा कि उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है—**'तस्य कार्यं न विद्यते।'** उसका हेतु बतलाते हुए भगवान्‌ने इस श्लोकमें उस महापुरुषके लिये तीन बातें बतलायीं—(१) कर्म करनेसे उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। (२) कर्म न करनेसे भी उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता और (३) किसी भी प्राणीसे उसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् कुछ पानेसे भी उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। **'न कृतेन अर्थः' 'न अकृतेन कश्चन अर्थः', 'एवं सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः न'**—इन पदोंसे यह ध्वनित होता है कि जबतक करनेका राग है, कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा तथा जीवित रहनेकी आशा एवं मृत्युका भय रहता है, तबतक मनुष्यपर कर्तव्यका विधान है। जिसकी किसी भी क्रियाके करने या न करनेमें कोई राग नहीं है, या संसारकी किसी वस्तु आदिको प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं है, न जीवित रहनेकी कोई आशा रखता है तथा न ही मृत्युसे भयभीत होता है, उसे कर्तव्य करना नहीं पड़ता, अपितु उससे स्वतः ही कर्तव्य कर्म होते रहते हैं। जहाँ अकर्तव्य होनेकी सम्भावना हो, वहीं कर्तव्य-पालनकी प्रेरणा रहती है।

विशेष बात—जो साधन जहाँसे प्रारम्भ होता है, अन्तमें उसकी समाप्ति वहीं होती है। गीतामें कर्मयोगका प्रकरण यद्यपि गीता २। ३९ से प्रारम्भ होता है, किंतु मूल साधनका विवेचन गीता २। ४७में है।

गीता २। ४७के चार चरणोंमें बताती है—

(१) **कर्मण्येवाधिकारस्ते** (तेरा कर्म करनेमें अधिकार है।)

(२) **मा फलेषु कदाचन** (फलमें तेरा कभी भी अधिकार नहीं है।)

(३) **मा कर्मफलहेतुर्भूः** (तू कर्मफलका हेतु मत बन।)

(४) **मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि** (तेरी अकर्ममें आसक्ति न हो।)

इस गीता ३। १८में ठीक उपर्युक्त साधनाकी सिद्धिकी बात है। गीता २। ४७में दूसरे एवं तीसरे चरणोंमें जो बात कही है, वह गीता ३। १८में तीसरे एवं चौथे चरणोंमें कही गयी है। तथा गीता २। ४७के चौथे चरणमें जो बात आयी, वह गीता ३। १८के दूसरे चरणमें आयी है। अब रही गीता २। ४७ और गीता ३। १८के प्रथम चरणोंके सामञ्जस्यकी बात। गीता २। ४७में कर्मयोगकी साधना बतायी है। साधनावस्थामें साधकमें जड़ताका रहना स्वाभाविक है,

अतः उसपर कर्तव्यकर्म करनेका दायित्व है। जब जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है तब गीता ३। १८के अनुसार उसपर कर्तव्यका दायित्व नहीं रहता। अतः गीता २। ४७ एवं गीता ३। १८के प्रथम चरणोंमें परस्पर भेद रहना स्वाभाविक है। भेद भी केवल इतना ही है कि गीता २। ४७में साधक-पर कर्तव्यकर्म करनेका दायित्व है, जब कि गीता ३। १८में सिद्धद्वारा कर्तव्यकर्म स्वतः होते हैं। उनसे उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। जैसे संसारमें होनेवाली क्रियाओंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही उस महापुरुषका अपने कहलानेवाले शरीरसे होनेवाली क्रियाओंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उसके द्वारा तो जो भी क्रियाएँ होती हैं, वे केवल लोक-हितार्थ और लोक-संग्रहार्थ ही होती हैं।

जिस स्थितिमें कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता, उस स्थितिको साधारण-से-साधारण मनुष्य भी प्रत्येक अवस्थामें तत्परता एवं लगनपूर्वक निष्काम करनेपर प्राप्त कर सकता है; क्योंकि उसकी प्राप्तिमें सभी स्वतन्त्र हैं* तथा कर्तव्यका सम्बन्ध प्रत्येक परिस्थितिसे जुड़ा हुआ है। इसलिये प्रत्येक परिस्थितिमें कर्तव्य निहित रहता है। केवल सुखलोलुपतासे ही मनुष्य कर्तव्यको भूलता है, यदि वह सुखलोलुपता निःस्वार्थ एवं निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा कर मिटा डाले तो जीवनके सभी दुःखोंसे छुटकारा पाकर परम शान्तिको प्राप्त हो सकता है। इस परम शान्तिकी प्राप्तिमें सबकी अधिकारिता सुरक्षित है। संसारके सर्वोपरि पदार्थ, पद आदि सबको समानरूपसे मिलने सम्भव नहीं हैं; किंतु परम शान्ति तो समानरूपसे ही मिलती है॥ १८॥

कर्मयोगका रहस्य

विश्व कर्ममय है। कर्म फलसे मिला हुआ होता है। कर्मफल ही संसारका बन्धन है। गीता कर्ममें अधिकार तो मानती है, पर फलमें नहीं। वह कहती है—कर्तव्यबुद्धिसे कर्म करो, फलकी आसक्ति (फलेच्छा) छोड़ दो। कर्मका हेतु सामान्यतया उस कर्मका फल होता है; गीता कहती है—तुम फलका हेतु मत बनो—अभ्यास करो कि फलकी प्रेरकताके बिना कर्तव्य स्वतः होने लग जायँ। किंतु ध्यान रहे, इससे कहीं कर्मोंके प्रति उदासीनता न आ जाय। इसे बतानेके लिये ही गीताका संदेश है—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।' मूलतः गीता मनुष्यको अकर्मा नहीं बनाती, निष्कामकर्मा बननेका उपदेश करती है। यही कर्मयोगका रहस्य है। यही निःश्रेयस्कर है। इसी अर्थमें श्रीकृष्णने कहा है—'*तस्माद्योगी भवार्जुन*।'

---

*(क) अतएव कर्ममार्गमें—यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ (गीता ४। २३)

(ख) एवं ज्ञानमार्गमें—अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। (गीता ४। ३६)

(ग) तथा भक्तिमार्गमें—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

—कहकर भगवान् सभीको अपना कल्याण करनेकी बात कहते हैं।

कर्मयोगकी साधना-पद्धति

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, शास्त्री, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०)

[गताङ्क सं०२, पृष्ठ-संख्या ३७ से आगे]

ईश्वरीय प्रकाशमें अन्तःकरण प्रतिक्षण, प्रतिपद ठीक कार्यको ही करनेका निर्णय लेता है। वह प्राण, मन, या बुद्धि व्याकुलता या वासनासे पृथक् रहकर समुचित आत्मचेतना एवं भगवान्की दिव्य ज्योतिमें निवास करते हुए भगवन्निर्दिष्ट कर्मका अनुष्ठान भगवान्द्वारा प्रदष्ट विधिसे ही करता है। कर्मयोगमें भी साधकको वही कुछ करना होता है जो कुछ ध्यानयोगमें किया जाता है अर्थात् भगवान्की ओर उद्घाटित होकर उनसे युक्त होना, अपने सभी कर्मोंको भागवत पराशक्तिके पथदर्शनपर छोड़ देना, अपनी चेतनाको अधिग्रहण करने एवं कर्मोंको अपने हाथमें लेनेके लिये तथा दिव्य संरक्षण देनेके लिये भगवान्की दिव्य शक्तिका आवाहन करना तथा भगवान्की शक्तिको निर्बाध होकर पूर्णरूपसे कार्य करने देनेमें बाधक सभी मिथ्या प्रभावों, निम्न-प्रकृतिकी भ्रान्ति, अचेतना एवं प्रमादसे पूर्ण क्रियाओंका त्याग करना।

जो भागवती-शक्ति ध्यानकी अवस्थामें चैतन्यमें कार्य करती है, वही कर्मके क्षेत्रमें भगवान्के प्रति उद्घाटित होनेपर साधकके कर्मको अपने हाथमें ले लेती है। योगस्थ होकर, भगवान्के साथ अधिकाधिक युक्त होकर कर्म करनेपर भगवान्की शक्ति साधकको न केवल कर्मसम्बन्धी दोषोंसे ही सावधान करती है, अपितु उसके अंदर यह भी बोध कराती है कि उसे आगे क्या करना होगा एवं जो कुछ करना होगा उसको करनेमें वह साधकके अन्तःकरण एवं उसके हाथोंको भी निर्देश दे सकती है। साधक जितना ही अधिक अपने आपको भागवतशक्तिके प्रति उद्घाटित एवं समर्पित अनुभव करता है उतना ही अधिक वह इस निर्देशको अधिक अनुभव करता है एवं अपने सभी कर्मोंके पीछे भगवान्की कर्मशक्तिको कार्य करती हुई अनुभव करता है। जब साधक भगवान्की दिव्य इच्छा, संकल्प एवं शक्तिके प्रति सचेत होता है तथा उनके प्रति उद्घाटित हो अपनी इच्छा, संकल्प एवं कार्यशक्तिपर प्रभुत्व पा लेने देता है, अपने सभी कार्यों, गतिविधियों, कार्यसाधनों एवं कार्य-सामर्थ्योंको भागवतशक्तिके हाथोंमें पूर्णता पानेके लिये सौंप देता है एवं भगवान्को अपने कर्मोंका क्रमशः साक्षी, द्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता एवं भोक्ता अनुभव करता है,[८] तभी वह कर्मयोगी होता है, तभी वह कर्मोंको सम्पूर्णताके साथ सम्पादन करनेवाला 'कृत्स्न-कर्मकृत्' होता है[९]।

कर्मयोगमें प्रविष्ट होनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक अकर्मण्यता, आलस्य, दम्भ, व्यक्तिगत लालसा, अपने किसी विशेष उद्देश्यकी पूर्तिका लोभ या स्वार्थ, प्रतिष्ठा, उच्चपद या कीर्ति पानेका लोभ, अन्तःकरणकी मलिन अवस्था या दूषित वृत्ति, ज्वर (क्षोभ, उत्तेजना), राग-द्वेष, काम-क्रोध एवं लोभ आदिसे सर्वथा मुक्त हो। भगवान् उसके जीवनके एकमात्र लक्ष्य होंगे एवं कर्म ही मुख्यरूपसे उनके साथ युक्त होनेका, उन्हें प्राप्त होनेका साधन होगा। अतएव यह आवश्यक है कि सभी कर्म केवल भगवान्के लिये ही किये जायँ, सभी कर्मोंको निरन्तर भगवान्को ही समर्पित किया जाय, कर्म करते समय भी भगवान्का स्मरण निरन्तर होता रहे तथा यह अनुभव होता रहे कि जो भी कर्म हो रहा है, वह भगवान्की शक्तिके द्वारा हो रहा है तथा

८—भगवद्गीता ९। १८, २४, १३। २२। ९—वही ४। १८।

हम केवल निमित्त या कार्यके करण (साधन) मात्र हैं। ऐसा होनेपर आन्तरिक अनुभव एवं बाह्य कर्म दोनों ही भागवतचेतनासे भरे हुए होते हैं, साधना अखण्ड एवं सर्वाङ्गीण होती है एवं कर्ममें योग अर्थात् भगवान्से मिलनका सतत् अनुभव होता रहता है। जो लोग सच्चे अन्तःकरणसे भगवान्के लिये कर्म करते हैं, वे उसी कर्मके द्वारा इस योग्य बन जाते हैं कि यथार्थ चैतन्यको प्राप्त हों, चाहे वे योगकी किसी विशेष साधना या ध्यानका अभ्यास न भी करें।

कर्मयोगमें आत्मसमर्पण साधकके किसी विशिष्ट कर्म करनेपर निर्भर नहीं करता, अपितु उस भावपर निर्भर करता है, जिसमें कोई भी कर्म किया जाता है। जो कर्म इस भावनासे किया जाता है कि कर्ममात्र ही भागवतशक्तिका कार्य है, वही कर्मके द्वारा आत्म-समर्पणका साधन होता है। जिस किसी भी कर्मको भगवान्को समर्पित करनेके लिये यह आवश्यक है कि उस कर्मको वासना और अहंकारसे रहित होकर कुशलता और सावधानीके साथ समबुद्धिसे इष्टानिष्टकी प्राप्तिमें शान्त एवं अविचल रहकर चित्तके द्वारा भगवान्से संयुक्त होकर केवल भगवान्के लिये ही किया जाय। गीताके कर्मयोगमें इन्द्रियजय, वासनाजय, संकल्प और कर्मासक्तिका त्याग, कर्मफलका संन्यास, निरहंकार एवं निष्काम कर्म, कर्मके दार्शनिक एवं व्यावहारिक पक्षका ज्ञान, सब प्राणियोंमें एकात्मभावकी बुद्धि, समभावना एवं समदृष्टि, विश्वात्माके चैतन्यसे युक्त होना, भगवान्की अनन्य भक्ति एवं शरणागति, भगवत्कृपाकी अमोघशक्तिपर दृढ़ विश्वास, कर्मका ब्रह्मार्पण एवं भगवान्के साथ एकात्मता है। हृदयस्थित, अन्तर्यामी, प्रेरक, नेता एवं प्रभु ईश्वरके साथ पूर्ण एकता तथा पुरुषोत्तम भगवान्के प्रति सर्वभावेन सर्वाङ्गपूर्ण समर्पण गीताके गुह्यतम रहस्य हैं। समर्पणकी सर्वाङ्गीणता एवं जीवनमें भगवान्के साथ पूर्ण तादात्म्य कर्मयोगद्वारा ही अभिव्यक्त होता है। कर्मयोगके बिना जीवनमें तथा जगत्में ब्रह्मको पाना सम्भव ही नहीं है।

कर्मयोगकी साधनाका भवन स्थिरता, पवित्रता, शान्ति एवं समताकी नींवपर ही खड़ा होता है। काम, रजोगुण एवं अहंकारके त्यागसे स्थिरता एवं पवित्रता आती है, और साधकमें शाश्वती शान्तिका निवास होता है। कामनाके त्यागसे समताकी प्राप्ति होती है। अपनी इच्छाको भगवदिच्छामें निमज्जित करनेसे तथा अपने संकल्पको भगवत्संकल्पपर उत्सर्ग कर देनेसे अहंभावका अन्त हो जाता है। अहंभावका अन्त होते ही व्यष्टिकी सीमा टूट जाती है और साधककी चेतना विश्व-चेतनाके अंदर प्रसारित हो जाती है एवं विश्वात्माके साथ एकात्मभावको प्राप्त हो जाती है या उसकी चेतना विश्वके भी ऊपर जो कुछ है (परार्ध जगत्के ऊर्ध्वलोकोंकी चेतना एवं विश्वातीत परमात्माकी चेतना), उसके अंदर ऊपर उठ जाती है।

ऐसा हो जानेपर प्रकृतिसे पुरुषकी पृथक् सत्ता अनुभूत होती है और बाह्य प्रकृतिके बन्धनोंसे मोक्ष होकर अपने निज शुद्ध चितिमात्र आत्मस्वरूपका साक्षात्कार होता है। तब अपनी चेतनाका बाह्यस्वरूप केवल करणके रूपमें दिखायी पड़ता है, तब यह प्रतीति होती है कि अपने सब काम विश्वशक्तिके द्वारा हो रहे हैं और आत्मा या पुरुष स्वतन्त्र है, साक्षी है और साक्षीरूपसे यह सब देख रहा है। यह प्रतीति होती है कि विश्व-जननी या भागवती-शक्तिने साधकके सभी कर्म अपने हाथोंमें ले लिये हैं और वही हृदयके पीछेसे सभी कार्योंका नियन्त्रण करती और कार्य करती है। अपने सब संकल्प और कर्म निरन्तर भगवान्को निवेदित करते रहनेसे प्रेम और अर्चना बढ़ती है। अन्तरात्मा आगेको आकर भगवान्के यन्त्रके रूपमें जीवन एवं कर्मका संचालन अपने हाथोंमें

ले लेता है। भागवतशक्तिको निवेदित करनेसे हमें क्रमशः अपने ऊपर उसकी सत्ता अनुभूत हो सकती है और हम अपने अंदर उसका अवतरण, दिव्य ज्ञानकी ओर अपना उद्घाटन एवं अपनेमें उत्तरोत्तर प्रवर्धमान दिव्य चैतन्यका अनुभव कर सकते हैं। अन्तमें कर्म, भक्ति और ज्ञान—तीनोंकी धारा एक साथ मिलकर प्रवाहित होती है तथा साधककी प्रकृतिका दिव्य रूपान्तरण होकर 'आत्मपरिपूर्णता'की स्थिति प्राप्त होती है।

लक्ष्मी कहाँ रहती है ?

(विभूतियोंकी परिगणनाके संदर्भमें भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि **'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'**—भरतकुलश्रेष्ठ अर्जुन! धर्मके अविरुद्ध रहनेवाला काम मैं हूँ। ऐसे भी काम अन्यतम पुरुषार्थ है। कामकी सम्पूर्ति अर्थके बिना नहीं हो पाती। अतः धर्मके बाद अर्थ और तब कामका नाम पुरुषार्थोंमें आता है। मूलतः कामकी पूर्तिके लिये अर्थकी अपेक्षा हो जाती है, जिसका मूर्त अधिदैवतरूप श्रीलक्ष्मीजी हैं। यज्ञ-दानादि धर्मोंमें भी धन अपेक्षित होता है। निष्काम साधनामें कामका त्याग आवश्यक होता है और धर्मकी पूर्तिमें सहायक अर्थप्रतीक श्रीलक्ष्मीजीकी स्थिति समझनेमें राजा बलिको छोड़कर देवाधिदेव इन्द्रके पास आनेकी प्रकृतकथा उपयोगी है। हम सद्गुणके साथ पहले सकाम होकर भी धर्मका पालन करें तो निष्कामताकी साधनामें वे गुण बहुत सहायक होंगे। उस समय केवल भावना-परिवर्तन भर करना होगा। अतः लक्ष्मीकी प्राप्तिरूप कामसिद्धिके लिये, उपयोगी सद्गुणोंकी शिक्षाके लिये यह आख्यान पठनीय है।)

एक बार इन्द्रने बड़ी कठिनाईसे राजा बलिको ढूँढ़ निकाला। उस समय वे छिपकर किसी खाली घरमें गदहेके रूपमें कालक्षेप कर रहे थे। इन्द्र और बलिमें कुछ बातें हो रही थीं। बलिने इन्द्रको तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया तथा कालकी महत्ता बतलायी। बात दोनोंमें चल ही रही थी कि एक अत्यन्त दिव्य स्त्री बलिके शरीरसे निकल गयी। इसे देख इन्द्रको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने बलिसे पूछा—'दानवराज! तुम्हारे शरीरसे यह प्रभामयी कौन-सी स्त्री बाहर निकल पड़ी? यह देवी है अथवा आसुरी या मानुषी?'

बलिने कहा—'न यह देवी है न मानुषी और न आसुरी ही। यह क्या है? तथा इसे क्या अभिप्रेत है सो तुम इसीसे पूछो।' इसपर इन्द्रने कहा—'देवि! तुम कौन हो तथा असुरराज बलिको छोड़कर मेरी ओर क्यों आ रही हो?'

इसपर वह प्रभामयी शक्ति बोली—'देवेन्द्र! न तो मुझे विरोचन जानते थे और न उनके पुत्र ये बलि ही। पण्डितलोग मुझे दुस्सहा, विधित्सा, भूति, श्री और लक्ष्मीके नामोंसे पुकारते हैं। तुम और दूसरे देवता भी मुझे नहीं जानते।'

इन्द्रने पूछा—'आर्ये! तुम बहुत दिनोंतक बलिके पास रही। अब बलिमें कौन-सा दोष और मुझमें गुण देखकर उन्हें छोड़ मेरे पास आ रही हो?'

लक्ष्मीने कहा—'देवेन्द्र! मुझे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेसे धाता, विधाता कोई भी नहीं रोक सकता। कालके प्रभावसे ही मैं एकको छोड़कर दूसरेके पास जाती हूँ। इसलिये तुम बलिका अनादर मत करो।'

इन्द्रने पूछा—'सुन्दरि! तुम असुरोंके पास क्यों नहीं रहना चाहती?'

लक्ष्मी बोलीं—'जहाँ सत्य, दान, व्रत, तप, पराक्रम तथा धर्म रहते हैं, मैं वहीं रहती हूँ। असुर इस समय इनसे विमुख हो रहे हैं। पहले ये सत्यवादी, जितेन्द्रिय और ब्राह्मणोंके हितैषी थे। पर अब ये

ब्राह्मणोंसे ईर्ष्या करने लगे हैं, जूठे हाथ भी मुझे छूते हैं, अभक्ष्य-भोजन करते और धर्मकी मर्यादा तोड़कर मनमाना आचरण करते हैं। पहले ये उपवास और तपमें लगे रहते थे। प्रतिदिन सूर्योदयके पहले जागते और रातमें कभी दही या सत्तू नहीं खाते थे। रातके आधे भागमें ही ये सोते थे, दिनमें तो ये कभी सोनेका नाम भी नहीं लेते थे। दीन, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगी तथा स्त्रियोंपर दया करते एवं उनके लिये अन्न-वस्त्रकी व्यवस्था करते थे। व्याकुल, विषादग्रस्त, भयभीत, रोगी, दुर्बल, पीड़ित तथा जिसका सर्वस्व लुट गया हो, उसको सदा ढाढ़स बँधाते और उसकी सहायता करते थे। पहले ये कार्यके समय परस्पर अनुकूल रहकर गुरुजनों तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें सदा दत्तचित्त रहते थे। ये उत्तम भोजन बनाकर अकेले ही नहीं खाते थे। पहले दूसरोंको देकर पीछे अपने उपभोगमें लाते थे। सब प्राणियोंको अपने ही समान समझकर उनपर दया करते थे। चतुरता, सरलता, उत्साह, निरहंकारता, सौहार्द, क्षमा, सत्य, दान, तप, पवित्रता, दया, कोमल वाणी और मित्रोंसे प्रगाढ़ प्रेम—ये सभी गुण इनमें सदा उपस्थित रहते थे। निद्रा, आलस्य, अप्रसन्नता, दोषदृष्टि, अविवेक, असंतोष और कामना—ये दुर्गुण इन्हें स्पर्शतक नहीं कर सके थे।

'पर अब तो इनकी सारी बातें निराली तथा विपरीत ही दीख पड़ती हैं। धर्म तो इनमें अब रह ही नहीं गया है। ये सदा काम-क्रोधके वशीभूत रहते हैं। बड़े-बूढ़ोंकी सभाओंमें ये गुणहीन दैत्य उनके दोष निकालते हुए उनकी हँसी उड़ाया करते हैं। वृद्धोंके आनेपर ये लोग अपने आसनोंपरसे उठते भी नहीं। स्त्री पतिकी, पुत्र पिताकी आज्ञा नहीं मानता। माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरुओंका आदर इनमें नहीं रह गया। संतानोंके उचित लालन-पालनपर ध्यान नहीं दिया जाता। इनके रसोइये भी अब पवित्र नहीं होते। छोटे बालक आशा लगाकर टकटकी बाँधे देखते ही रह जाते हैं और दैत्यलोग भोजनकी वस्तुएँ अकेले चट कर जाते हैं। ये पशुओंको घरमें बाँध देते हैं, पर चारा और पानी देकर उनका पालन-पोषण नहीं करते। ये सूर्योदयतक सोये रहते हैं तथा प्रभातको भी रात ही समझते हैं। प्रायः दिन-रात इनके घरमें कलह ही मचा रहता है।

'अब इनके यहाँ वर्णसंकर संतानें होने लगी हैं। वेदवेत्ता ब्राह्मणों और मूर्खोंको ये एक समान आदर या अनादर देते हैं। ये अपने पूर्वजोंद्वारा ब्राह्मणोंको दी हुई जागीरें (जीविका-क्षेत्र) अपनी नास्तिकताके कारण छीन लेते हैं। शिष्य अब गुरुओंसे सेवा करवाते हैं। पत्नी पतिपर शासन करती है और उसका नाम ले-लेकर पुकारती है। संक्षेपमें, ये सब-के-सब कृतघ्न, नास्तिक, पापाचारी और स्वैरी बन गये हैं। अब इनके वदनपर पहलेका वह तेज नहीं रह गया है।

'इसलिये देवराज! अब मैंने भी निश्चय कर लिया कि इनके घरमें नहीं रहूँगी। इसी कारणसे दैत्योंका परित्याग करके तुम्हारी ओर आ रही हूँ। तुम मुझे स्वीकार करो। जहाँ मैं रहूँगी, वहाँ आशा, श्रद्धा, धृति, क्षान्ति, विजिति, संतति, क्षमा और जया—ये आठ देवियाँ भी मेरे साथ निवास करेंगी।' मेरे साथ ही ये सभी देवियाँ भी असुरोंको त्याग कर आ गयी हैं। तुम देवताओंका मन अब धर्ममें लग गया है, अतएव अब हम तुम्हारे ही यहाँ निवास करेंगी।'

तदनन्तर इन्द्रने उन लक्ष्मीजीका अभिनन्दन किया। सारे देवता भी उनका दर्शन करनेके लिये वहाँ आ गये। तत्पश्चात् सभी लौटकर स्वर्गमें आये। नारदजीने लक्ष्मीजीके आगमनकी स्वर्गीय सभामें प्रशंसा की। एक साथ ही पुनः सभीने बाजे-गाजेके साथ पुष्प और अमृतकी वर्षा की। तबसे फिर अखिल संसार धर्म तथा सुखमय हो गया।

(महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्ष० २२४–२२८, बृहत्पाराशर-स्मृति, अध्याय ९९। महा०, अनुशासन-पर्व, अध्याय ११)

कर्म, विकर्म, अकर्म और कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी)

[विशेषाङ्क-पृष्ठ-सं० ३२०से आगे]

पूर्वोक्त गीताके व्याख्याकारोंने अपने-अपने मतानुसार जो भी कर्म और अकर्मकी परिभाषा की है, उसके अनुसार ही इस श्लोकमें कर्माकर्म-बुद्धि मानना उचित है और तभी इन आचार्योंके विचारोंका पूर्वापर सामञ्जस्य स्थापित हो सकेगा। परंतु सभीके दृष्टिकोणोंसे अलग-अलग विचार करनेपर निबन्धका आकार बहुत बड़ा हो जायगा इसलिये यहाँ केवल आचार्य मधुसूदन सरस्वतीके मतानुसार ही विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

कर्मादि रहस्य—त्रिगुणात्मक प्रकृति अथवा त्रिगुणात्मक मायाके परिणाम देह, इन्द्रियाँ आदि सम्पूर्ण जगत् है। कारण-गुणात्मक कार्य होनेके कारण देहेन्द्रियादि भी त्रिगुण तथा व्यापारवान् हैं; क्योंकि व्यापार गुणका धर्म है, आत्माका नहीं। आत्मा उससे भिन्न निर्गुण और निष्क्रिय तथा चेतन है। किंतु सांसारिक व्यवहार-दशामें देहेन्द्रियादिद्वारा किये हुए विहित एवं निषिद्ध कर्मोंका आत्मामें आरोपकर 'मैं इस कर्मका कर्ता हूँ, 'मेरा यह कर्म है, इसके फलका भोक्ता हूँ'—प्राणियोंको ऐसा भ्रमज्ञान धर्माध्यासके कारण होता है। जैसे चलती हुई नौकामें बैठा हुआ पुरुष नदीके तीरपर स्थित अचल वृक्षादिमें नौकामें रहनेवाली चलनक्रियाका आरोप कर 'ये तटके वृक्ष भाग रहे हैं'—ऐसा मानता है, किंतु यही बात यदि वह वास्तविकरूपमें देखने लगे तो अवश्य कहेगा कि वृक्ष अचल हैं, वैसे ही अकर्ता आत्माके स्वरूपको समझकर यदि वह विचार करने लगे तो उसे यह व्यवहार 'मैं कर्ता हूँ'—असत्य प्रतीत होगा अर्थात् ये देहेन्द्रियादि-कृत हैं। आत्मामें कर्माभाव है। इसी प्रकार त्रिगुणमाया-परिणाम निरन्तर व्यापारशील, देहेन्द्रियादिमें आत्मनिष्ठ नैष्कर्म्यका आरोप कर 'मैं व्यापारसे रहित सुखी हूँ'—यह भ्रमज्ञान भी प्राणी करते हैं; जैसे दूरवर्ती चलते हुए पुरुषमें वह पुरुष खड़ा है ऐसी प्रतीति होती है जो वस्तुतः मिथ्या है। यदि इसी बातको वह सत्यरूपमें देखे तो उसको वह पुरुष चलता हुआ दिखायी देगा, वैसे ही व्यापारशील देहेन्द्रियादिका पर्यालोचन करनेपर पुरुषगमनकी तरह कर्मनिवृत्ति नामक व्यापारको ही उस समय कर्म मानेगा; क्योंकि प्रवृत्तिके समान निवृत्ति भी व्यापाराधीन होनेके कारण कर्म है। ऐसे ही उदासीन अवस्थामें 'मैं उदासीन हूँ'—यह अभिमान करना भी कर्म है। इसका कारण यह है कि उस समय भी उदासीनताके कर्तृत्वका अभिमान करना भी कर्म है। इसका कारण यह है कि उस समय भी उदासीनताके कर्तृत्वका अभिमान रहता है जो बन्धनका हेतु है। कर्तृत्वाभिमान न रहनेपर कोई भी कर्मबन्धनका कारण नहीं होगा। इसलिये आत्मा कर्ता नहीं है, अपितु देहेन्द्रियसंघात कर्ता है—ऐसा विवेक रखते हुए कर्मको करना चाहिये। यह गीताका मुख्य सिद्धान्त है।

व्यावहारिक दृष्टिसे विकर्म और अकर्मको त्यागकर कर्तृत्वाभिमान तथा फलाभिसंधिसे रहित होकर केवल कर्तव्य समझकर कर्मको करो, यही भगवान् कृष्णका अभिप्राय है।

इस श्लोककी दूसरी पारमार्थिक व्याख्या इस प्रकार की जाती है।

जो व्यक्ति कर्म अर्थात् दृश्य जड़ पदार्थमें अकर्म अर्थात् सत् 'स्फुरणस्वरूप, सर्वत्र अनुस्यूत, सर्वाधिष्ठान, अवेद्य, स्वप्रकाश चेतनको देखता है तथा अकर्म (स्वप्रकाश चैतन्य) में कल्पित, मायामय, अनृत, दृश्यपदार्थको देखता है, वही मनुष्योंमें बुद्धिमान्, परमार्थदर्शी, योगयुक्त

और सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है । अभिप्राय यह है कि इस परस्पराध्यस्त जड-चेतनमय जगत्में जो शुद्ध चेतनको परमार्थ-दृष्टिसे देखता और समझता है, वही वास्तविक बुद्धिमान् है ।

इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकार की गयी है कि जो व्यक्ति नित्य परमेश्वरार्थ अनुष्ठीयमान कर्ममें अकर्म-बुद्धि रखता हो, क्योंकि ये कर्म बन्धनके कारण नहीं हैं, तथा अकर्म अर्थात् नित्यकर्मके न करनेमें कर्मबुद्धि रखता हो (क्योंकि नित्यकर्मका न करना प्रत्यवायका कारण है) वही व्यक्ति बुद्धिमान् है । किंतु मधुसूदन आदि आचार्योंको यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है; कारण यह है कि नित्यकर्ममें अकर्म-बुद्धि करना अशुभ-निवर्तक नहीं है, अपितु ऐसा समझना ही मिथ्या ज्ञान होनेके कारण स्वयं अशुभ है । नित्य-कर्मका उपयोग अन्तःकरण-शुद्धिमें है, इसलिये उसे अकर्म मानना शास्त्रोंसे असम्मत तथा अनुचित है ।

उपर्युक्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि **'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्'** इत्यादि वचन निष्कर्मताके पूर्ण प्रतिपादक हैं । जो व्यक्ति कर्म करते हुए निष्कर्मताके तत्त्वको जानता है, वह सूर्यविम्बकी तरह मनुष्यत्वसे लिप्त नहीं होता । वह न देखते, न करते, न भोगते हुए भी सर्वद्रष्टा, सर्वकर्ता, सर्वभोक्ता है । वह एक जगह रहते हुए सब जगह व्याप्त हो जाता है अर्थात् विश्वाकार हो जाता है ।

यद्यपि यहाँ निष्कर्मताका अभिप्राय कर्मशून्यतासे नहीं है, अपितु निष्कामतासे है, किंतु चीनका प्राचीन दार्शनिक ताओने (जिसका समय ईसासे छः सौ वर्ष पूर्व है और जो सम्भवतः गौतमबुद्धका समकालीन था उसने) नैष्कर्म्य-सिद्धान्तका प्रतिपादन इस प्रकारसे किया है कि बुद्धिमान् मनुष्यको कोई कर्म नहीं करना चाहिये; क्योंकि सभी कर्म सुखजनक या दुःखजनक होते हैं और सुख तथा दुःख दोनों वासनामूलक होनेके कारण मनुष्यको बन्धनमें डालते हैं । विदेशीय नैष्कर्म्य-सिद्धान्तका सम्भवतः यह सबसे प्रथम रूप है । चीनके दार्शनिक ताओसे पूछा गया कि बिना कर्मके संसारका काम कैसे चलेगा तो उसने हँसकर उत्तर दिया कि मूर्खतापूर्ण संसारके मूर्खतापूर्ण कार्योंके लिये मूर्ख मनुष्योंकी कमी नहीं रहेगी; परंतु बुद्धिमान् लोग इस मूर्खतासे बचते रहेंगे ।'

यद्यपि ताओका कथन नैष्कर्म्यके अर्थसे ओतप्रोत है, किंतु गीतामें प्रतिपादित नैष्कर्म्यका सिद्धान्त उससे भिन्न (और उत्कृष्ट) है, जिसको आगे स्पष्ट किया जायगा । इसके अतिरिक्त वह सिद्धान्त भारतमें और विशेषतः आधुनिक युगमें सर्वमान्य नहीं है । कर्मयोगका विषय अत्यन्त विस्तृत है । यहाँ प्रकरणसे प्राप्त कर्मयोग-पर ही संक्षेपमें विचार किया जा रहा है ।

कर्मयोग—यद्यपि वेदत्रयीका अनुसरण करनेवाली गीता भी त्रिकाण्डमयी है; इसके छः-छः अध्यायोंमें क्रमशः कर्म, उपासना और ज्ञानका प्रतिपादन हुआ है; तीनों काण्डोंमें किस सिद्धान्तकी प्रमुखता है, यह कहना कठिन है, फिर भी आचार्योंने अपने-अपने दृष्टिकोण तथा सम्प्रदायके अनुसार भिन्न-भिन्नकी प्रमुखता प्रकट की है, जो यथारुचि सत्य और उचित है; किंतु कर्मविमुख अर्जुनको एकमात्र कर्ममें प्रवृत्त करनेके लिये निर्मित गीताका मुख्यरूपसे प्रतिपाद्यविषय कर्मयोग ही है । इसीका प्रतिपादन कृष्णने अनेक स्थलोंपर किया है । **'योगः कर्मसु कौशलम्'**[1], **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'**[2], **'वर्त एव च कर्मणि'**[3], **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'**[4], **'स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'**[5] **'कुरु कर्मैव'**[6] इत्यादि वचन उसके प्रतिपादनके निष्कर्षको प्रकट करते हैं ।

१–२ । ५०; २–२ । ४७; ३–३ । २२; ४–१८।४५; ५–१८ । ४६; ६– ४ । १५, ३ । ४, ७, ८, ९, १९, २०, २२, २६, ४ । २०, १८ । ५७ ।

कर्म मानव-मात्रके लिये कभी हेय नहीं है, अपितु सर्वदा अपरिहार्य है। व्यावहारिक दृष्टिसे देखा जाय तो बिना कर्मके जगत्का व्यवहार पंगु हो जायगा और जीवनयात्रा दूभर हो जायगी। धार्मिकदृष्टिसे अदृष्ट-निर्माण, दुरितक्षय तथा ज्ञानप्राप्तिके लिये कर्म आवश्यक है। यदि आध्यात्मिक दृष्टिसे भी विचार किया जाय, तो भी कर्तव्यके कारण देश-कल्याण-निमित्त कर्मकी उपादेयता है। वर्ण, आश्रम, देश, काल, पात्र, दशा और स्थितिके अनुसार कर्मोंको करता हुआ आध्यात्मिक व्यक्तिके अभिमान तथा फलाकाङ्क्षारहित होनेपर, न तो उसमें कर्म लिप्त होता है और न बन्धनका हेतु बनता है। मुमुक्षु व्यक्तियोंके लिये अनासक्तिपूर्वक कर्मकी उपादेयता चित्त-शुद्धिके लिये आवश्यक है। प्राचीनकालमें ययाति प्रभृति राजाओंने भी एतदर्थ कर्मोंको किया था। जैसे तत्त्ववेत्ताओंके लिये लोकसंग्रहकी दृष्टिसे कर्मकी आवश्यकता है और इस पद्धतिसे जनक प्रभृति ज्ञानी राजर्षियोंने कर्मानुष्ठान किया, वैसे ही मानवमात्रको कर्ममें प्रवृत्त करानेवाली गीताका मुख्य तात्पर्य कर्मयोगसे ही है। कर्मयोगके प्रति किसी भी सम्प्रदाय अथवा मार्गका कोई विरोध नहीं है, चाहे वह ज्ञानमार्ग हो या भक्तिमार्ग। आचार्य शंकर—जैसे ज्ञानमार्गीने भी लोकसंग्रहकी दृष्टिसे ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषदोंपर भाष्यकी रचना की और भारतके चारों कोनोंपर चार मठोंकी स्थापना की। आचार्य रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क आदि भक्ति-मार्गियोंने भी कर्मक्षेत्रमें आकर विविध कर्म किये।

भगवान् कृष्णने गीतामें जिस कर्मयोगका उपदेश दिया है, वह निष्कामकर्मयोग है। आसक्ति और फलाभिसन्धिरहित इस निष्कामकर्मयोगको ही संन्यास और त्याग कहते हैं। गीताके अठारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें कहा है कि—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

आसक्ति और फलाभिसन्धि छोड़कर नियत कर्मको कर्तव्य मानकर करना ही सात्त्विक त्याग है। आसक्ति और फलाकाङ्क्षासे रहित होना ही कर्मयोगकी विशेषता है। ऐसा कर्मयोग ज्ञानयोगसे भिन्न नहीं है; क्योंकि दोनोंका फलैक्य है। यह गीतामें ही उक्त है[1]। कर्म, विकर्म और अकर्मका तात्त्विक रहस्य और कर्मयोगका वास्तविक रूप यही है कि प्राणी निष्काम, अनासक्त, फलासक्तिरहित, प्रकृति-पुरुषकी विशेषताओंको भलीभाँति समझता हुआ निर्लेपभावसे प्रशस्त सात्त्विक कर्मोंका यथेष्ट आचरण करे। शास्त्रोंमें अनन्य भक्ति, निष्काम कर्मयोग और ज्ञान—इन तीनोंको श्रेयस्कर माना गया है। कर्म, विकर्म तथा अकर्मका गीतामें जो प्रतिपादन हुआ है, उसपर विचार करते हुए हमें गीताके इस मूलभूत सिद्धान्तको दृष्टिमें रखना होगा कि आत्मा अकर्ता है। प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही सब कर्म होते हैं; किंतु विमूढ आत्मा अपनेको कर्ता मान लेता है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥[2]

इस अज्ञानका उच्छेद ही निःश्रेयस-प्राप्तिका एकमात्र उद्देश्य है। इसी दृष्टिसे शंकराचार्यने ज्ञानको ही पारमार्थिक रूपसे सत्य माना है। शंकराचार्यको इसके लिये साम्प्रदायिक मानना उचित नहीं है; क्योंकि उन्होंने कर्म अथवा भक्तिकी उपेक्षा नहीं की है। शंकरने अपने गीताभाष्यमें स्पष्टरूपसे कहा है कि जबतक आत्मज्ञान न हो, तबतक विहित कर्म करते रहना चाहिये। सभीके लिये शरीरयात्रा-हेतु कर्म अनिवार्य है। ज्ञानियोंको भी जनककी तरह अन्य लोगोंके लिये कर्म करते रहना चाहिये। भगवान् कृष्णने स्वयं कहा है कि—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥[3]

१–गीता ५।४। २–वही ३।२७। ३–वही ११।५५।

इस श्लोककी व्याख्या करते हुए इसे गीताका सार कहा है। शंकरका केवल यह कहना है कि विहित कर्म और भक्तिका उपयोग अन्तःकरणकी शुद्धि तथा आत्मज्ञानके लिये है। पारमार्थिक रूपसे केवल ज्ञान अभीष्ट है। इस संसार अथवा अविद्याका कारण अज्ञान है और उसकी निवृत्ति अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति केवल ज्ञानसे ही हो सकती है। कर्मयोग ज्ञानसे मुक्ति स्वीकार करता हुआ भी उपर्युक्त निदर्शनोंसे ज्ञानप्राप्तिके बाद लोकसंग्रहार्थ विश्वजनीन कर्म करते रहनेका विधान करता है, बस, इतना ही दोनोंमें अन्तर है।

चिन्ताका भार ईश्वरपर छोड़ दें

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आधुनिक शिक्षा-संसारके मनोरोग-चिकित्सक डॉक्टर कार्ल जुंग अपनी लोकप्रिय पुस्तक 'मार्डन मैंन इन सर्च आफ ए सोल' (आत्माकी खोजमें वर्तमान मानव) पुस्तकमें लिखते हैं—'गत तीस वर्षोंमें विश्वके सभी सभ्य देशोंके नागरिकोंने मुझसे मानसिक उपचार कराया है। मैंने सैकड़ों मनोरोगियोंकी चिकित्सा की है। उन रोगियोंमेंसे पैंतीस वर्षके ऊपरकी अँधेड़ अवस्थावाले रोगियोंमेंसे एक भी ऐसा न निकला, जिसकी समस्या अन्ततः जीवनके प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनानेकी न रही हो। मैं तो यह कहूँगा कि उनके बीमार होनेका कारण आध्यात्मिक दृष्टिकोणको खो देना है। धर्मके अनुयायी इस आध्यात्मिक दृष्टिकोणको अपनानेकी संस्तुति युगों-युगोंसे देते आ रहे हैं। जिन रोगियोंने आध्यात्मिक दृष्टिकोण नहीं अपनाया, उन्हें मैं अपने उपचारसे स्वस्थ न कर सका। मानसिक रोगोंसे बचनेका उपाय आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाना ही है।' आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्वास्थ्यकर और श्रेयस्कर दोनों है।

यह अनुभव इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसपर गम्भीरतासे विचार होना चाहिये। मनुष्य मानसिक रूपसे बीमार कब पड़ता है? वह मानसिक रूपसे अस्वस्थ तब होने लगता है, जब इस विस्तृत संसार और विपुल समाजमें अपने-आपको सब ओरसे असहाय, निराश्रित, दीनहीन और बेसहारा अनुभूत करता है। उसे अपने इष्ट-मित्रों, बन्धु-बान्धवों, परिवार और सम्बन्धियोंसे निराशा मिलती है। जिन-जिनके प्रति उसने उपकार किये हैं, उनसे कृतघ्नताका व्यवहार ही प्राप्त होता है। दुनियाकी कृतघ्नता प्रत्यक्ष होती जाती है। होनेवाली बात न होकर अनहोनी दुःखदायी दुर्भाग्यपूर्ण घटना घटित हो जाती है। विश्वासपात्रका मौकेपर विश्वासघात किया जाना, किसी कुशल कलाकारका अकस्मात् अपनी कला खो बैठना या किसी विशेष अङ्गका बेकाम हो जाना, इकलौते पुत्रकी मृत्यु, नौकरी छूट जाना, मुकदमेमें हार, बाढ़, आँधी, भूचाल, लड़ाई-झगड़ोंके कारण हानि, कारखानोंमें या फैक्टरियोंमें होनेवाली आकस्मिक दुर्घटनाएँ, मृत्यु इत्यादि असंख्य भाँति-भाँतिकी विपत्तियाँ अचानक आ पड़ती हैं, जिनकी हम कल्पनातक नहीं किये रहते। इससे भी बुरी स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। जैसे भूचाल या तूफानमें बड़े-बड़े उत्तुंग भवन क्षणभरमें धराशायी हो जाते हैं, ऐसे ही दुर्भाग्यकी विविधतापर हम अकस्मात् किंकर्तव्यविमूढ़ हो भयातुर या चिन्ताग्रस्त हो उठते हैं।

दुर्भाग्यसे लड़नेके लिये आपके पास कोई मजबूत साहसी विश्वासपात्र सहारा होना चाहिये। उसकी सहायता ऐसी पक्की, सक्रिय, समयपर होनी चाहिये कि धैर्य आये और मुसीबतसे छुटकारा मिले। धोखा न हो, हिम्मत बँधी रहे।

विपत्तिके अनपेक्षित आक्रमणसे बचानेका गुप्त आधार या हमारा सच्चा मित्र हितैषी, एकमात्र सहारा ईश्वर ही हो सकता है। हम यथाशक्ति अपना प्रयत्न करें, स्वयं भरपूर कोशिश कर विपत्तियोंसे बचनेका उद्योग करें, अपनी सारी शक्ति लगाकर खतरेका मुकाबला करें, हानिको लाभमें बदलनेके लिये अपनी ओरसे कुछ भी उठा न रखें, दुर्भाग्यकी मारके आगे आत्मसमर्पण न करें, कुशल खिलाड़ीकी तरह हारे हुए खेलको जीतनेकी कोशिश जारी रखें, पर उसके बाद ? आगे किसपर निर्भर रहें ?

इसके बाद सब कुछ ईश्वरके ऊपर छोड़ दें। जो स्वयं अपना प्रयत्न नहीं छोड़ता, उसकी ईश्वर गुप्त सहायता करता है—**'तत्र देवः सहायकृत्'**। अकेले जीवन-संघर्ष करनेके बजाय आप ईश्वरको अपना मित्र, हितैषी और परम सहायक मानकर गुप्त दैवी आध्यात्मिक शक्तिसे सहायता लें। आप ईश्वरके साथ मिलकर अवश्य सफल हो जायँगे। जिन्हें ईश्वरपर विश्वास है, जो संकटके समय उसे पुकारते हैं, उन्हें अवश्य ही आत्मासे आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है—यह शतशः अनुभूत तथ्य है। मनके भीतर और बाहर ईश्वरके अस्तित्वका विश्वास रखिये। परमात्माकी दिव्यशक्ति आपको मिलेगी और आपके सब कष्ट दूर होंगे। एक बार ईश्वरपर विश्वास तो कीजिये, मजबूत और अटूट। अनेक भक्त हृदयस्थ भगवान्‌पर विश्वास न कर भगवान्‌का दर्शन बाह्य भागमें, जंगलों, पर्वतों, धर्मस्थलोंमें पानेके लिये भाग-दौड़ करते रहते हैं, पर बिना विश्वासके कुछ भी लाभ नहीं होता। मनको एकाग्र शान्त और स्थिर करके पाँच-सात बार नासिकासे धीरे-धीरे गहरा श्वास लेकर फिर नासिकासे ही धीरे-धीरे छोड़ देना चाहिये। इससे मन शिथिल हो जाता है। अभ्यासीका कर्तव्य है कि वह अपने हृदयको जहाँ भगवान्‌का निवास-स्थान है, विशुद्ध निर्मल और पवित्र कर मनको शान्त करे; स्वार्थ, क्रोध, काम, ईर्ष्या आदिसे ऊपर उठे। अनन्य भावसे ईश्वरकी महत्ता अनन्त शक्ति एवं दैवी सहायताके ऊपर दृढ़तम विश्वास करे। अपने कर्तव्य या उद्देश्य-पूर्तिमें ईश्वरको अपना परम सहायक, सुहृद्, मित्र, साथी, सहयात्री मानकर निष्काम भावद्वारा कर्म करे, तो निश्चय ही अपने क्षेत्रमें सफल हो सकता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

'वे हमारी गति, भरण करनेवाले, शासक, निवास, साक्षी, शरण और परम मित्र हैं।'

ईश्वरीय शक्ति अपने अंदर जाग्रत् करनेका उपाय प्रार्थना है। सच्ची प्रार्थनासे हम सीधे उस शक्ति-केन्द्र-(ईश्वर-) से सम्पर्क स्थापित कर उससे शक्ति प्राप्त करते हैं। विश्वाससे परिपूर्ण प्रार्थनासे बड़े-बड़े उद्देश्योंकी पूर्ति हुई है—रोगी रोगमुक्त हुए हैं, गूँगे वाचाल हो गये हैं, लँगड़े-लूलोंके पैर सीधे हो गये हैं, गरीब और कंगाल साधनसम्पन्न हो गये हैं, अशान्त-दुःखी-निराश व्यक्तियोंने शान्ति-आनन्द-तृप्ति, आत्मसंतोषका अनुभव किया है। कमजोरोंको शक्ति प्राप्त हो गयी है।

आप यह मानकर कर्तव्य करें कि ईश्वर गुप्तरूपसे आपके साथ सहायकके रूपमें चल रहा है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, करुणामय तथा पवित्र है, परम सहायक है। परिश्रम, सक्रियता, सत्कर्म, सेवा और त्याग भी उत्तम उद्देश्योंकी पूर्तिमें सहायक होते हैं। चिन्तनाएँ हानि, बैर, अशान्ति दूर करती हैं। प्रातःकाल (सूर्योदयसे पूर्व), मध्याह्नकाल, सायंकाल या रात्रिके समय नित्य नियमित समयपर शौच और स्नानसे निवृत्त होकर एकान्तमें नियत स्थानपर कम-से-कम आध घंटे परमात्मासे मिल रही दैवी सहायता, उनके प्रेम, ज्ञान, शान्ति, पवित्रता, शक्ति या परमात्माके किन्हीं

विशिष्ट गुणोंपर ध्यान करना चाहिये । बादमें ॐ आनन्दका गानकर शान्तिपाठ करते हुए प्रार्थना समाप्त करनी चाहिये । प्रार्थनासे दैवी शक्ति जाग्रत् होकर हमारी गुप्त सहायता करती है । (प्रार्थना प्रतिदिन नियमसे होनी चाहिये । प्रार्थना परमेश्वरके पास पहुँचनेका 'पासपोर्ट' है ।)

परमेश्वर हमारे सच्चे मित्र हैं । वे कष्टोंमें सहायक हैं और हमारी समस्याओंको समाहित करनेमें सदैव तत्पर हैं । वे प्रतिपल हमारे साथ हैं । वे हमारे सभी पापों और क्लेशोंको सहते हैं । यह भाव मनमें रखकर अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिये । सब कुछ ईश्वरका ही कार्य है—यह मानकर भक्तिसे, प्रेमसे, काममें लगना चाहिये । अपने कर्म भगवान्‌को अर्पणकर हम शक्ति पाते हैं । अकेले ही किसी कामको करनेका दम्भ रखकर हम प्रायः शक्ति और शान्ति, साहस और धैर्य खो देते हैं और व्यर्थ ही दुःख झेलते या असफल हो जाते हैं । गीतामें कहा है—**'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि**—मेरे लिये कामोंको करते हुए भी सिद्धि प्राप्त कर लोगे ।'

आप अकेले ही जीवनकी समस्याओं, मुसीबतों, कष्टों, जिम्मेदारियोंको उठानेका प्रयास करके दुःखद भूल कर रहे हैं । अपना सब कुछ ईश्वरको समर्पित कर उसके औजार या प्रतिनिधिके रूपमें कार्य कीजिये । जीवनके अत्यन्त धूमिल विषादके क्षणोंमें आपको दैवी शक्ति और सहायता मिलेगी । भगवान् स्वयं आपकी सहायताके लिये आ रहे हैं । वे आपका मार्ग मधुर और उज्ज्वल करनेवाले हैं—यही आध्यात्मिक दृष्टिकोण सान्त्वना देनेवाला है । याद रखिये, धार्मिक निष्ठा हमें शान्ति, धैर्य और दृढ़ता प्रदान करती है । पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्सके ये शब्द गाँठमें बाँध रखने योग्य हैं कि—

'जिस प्रकार सागरका ऊपरी चञ्चल भाग और ऊपरी लहरें उसके अन्तःस्थलकी शान्ति भंग नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टिकोणवाले व्यक्तिके ईश्वरीय विश्वासमें वैयक्तिक और सामाजिक जीवनके क्षणिक उतार-चढ़ाव कोई महत्त्व नहीं रखते । जिस व्यक्तिमें वास्तविक धार्मिक निष्ठा हो, वह कर्तव्यपालनमें दृढ़ और संतुलित रहता है तथा धैर्यपूर्वक सामाजिक जीवनके किसी भी कर्तव्यको निभानेमें तत्पर रहता है ।'

यदि आपने अपनी धार्मिक निष्ठा खो दी है तो प्रार्थनाद्वारा उसे फिर जाग्रत् कीजिये । ईश्वरकी किसी शक्ति, चित्र, मूर्ति, मन्दिर या घरके पूजा-गृहमें गिड़गिड़ाइये और याचना कीजिये कि, 'हे भगवन् ! अब मैं अकेला संघर्ष नहीं कर सकता, मुझे तुम्हारी सहायता, शक्ति और धैर्य चाहिये । मेरी सभी भूलोंको क्षमा कर दीजिये और हृदयकी चिन्ता, चञ्चलता, कल्मष दूर कर दीजिये । मुझे शान्ति, स्थिरता एवं स्वरूपताका पवित्र मार्ग दिखाइये और मुझमें इतना प्रेम-भाव भर दीजिये कि मैं शत्रुओंको भी क्षमाकर प्यार कर सकूँ । हे प्रभु ! मुझे अपनी शान्तिका उपकरण बनाइये जिससे कि मैं कृपाके बदले प्रेम, अपकारके बदले क्षमा, नैराश्यके बदले आशा, आनन्द, उत्साह, साहस, अंधकारके बदले ज्ञानका प्रकाश तथा उदासीके बदले उल्लास, मुस्कराहट, उमंग एवं धैर्यके भाव प्रकट कर सकूँ ।' इस प्रकार चिन्ताका भार ईश्वरपर छोड़िये । आप आनन्दित रहेंगे । उर्दूके एक शायरने कहा है—

किश्ती खुदापर छोड़ दी, लंगड़को तोड़ दी ।
एहसान नाखुदाका उठाये मेरी बला ॥

कर्म-विवेचन

(३)

(लेखक—डॉ० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, 'सोम')

व्यवस्थाएँ कालक्रमसे बनती और बिगड़ती हैं। सामाजिक चेतना और राजकीय अनुशासन जागरूक रहे तो व्यवस्थाकी दीर्घकालतक रक्षा होती रहती है। जैसे ही राजसत्ता विलास और वैभवकी चकाचौंधमें पड़ती है, वैसे ही समाज भी अर्थलोलुप तथा उच्छृङ्खलताका आखेट बन जाता है। यह अवस्था शोचनीय होती है। ऐसी दशामें कर्म अकर्म तथा विकर्मका रूप धारण कर लेता है। विकर्म विपरीत कर्म है, जिसे दुष्कर्मकी भी संज्ञा दी जा सकती है। अकर्म अकरणीय है, पर उससे कर्महीनता, पुरुषार्थ-शून्यता एवं परोपजीविताका अर्थ भी निकलता है। जो व्यक्ति कर्म नहीं करेगा, निठल्ला बैठा रहेगा, भोजनके लिये तो वह भी मचलेगा ही। अपने पास कुछ नहीं है तो वह दूसरेकी कमाईपर हाथ फेरेगा, भूखा नहीं रह सकता। भोजनके लिये हाथ-पैर मारने पड़ते हैं। मनसे मार्गकी खोज करनी पड़ती है। तन और मनका परिश्रम इसीका नाम है। ऐसा परिश्रम न करके भी उसे भोजन चाहिये। कोई खिलानेवाला मिल गया तो कुछ दिन आरामसे कट जायँगे, पर जीवनभर खिलानेका ठेका तो कोई ले नहीं सकता। तब निठल्ला मनको दौड़ायेगा और चोरी करेगा। इस रूपमें वह कर्म करनेपर तो उतारू होगा, पर उसका कर्म आर्यका नहीं, दस्युका होगा। अकर्मसे वह कर्मपर तो अवश्य पहुँचेगा, पर वह कर्म दुष्कर्म होगा। उसका मन सक्रिय तो होगा, पर पाप उसके पीछे पड़ जायगा। ऐसे ही पापी मनको पथसे विपरीतगामी मन कहा जाता है। मन मलीन, अन्यव्रत और शरीर दुराचरण, दुष्कर्मसे सना हुआ, फिर मानवता कहाँ रही ! ऐसा विकर्मा और दुर्मना व्यक्ति अमानुष है। उसे मनुष्यका अभिधान नहीं दिया जा सकता। वह स्वयं दूषित होता है और समाजको भी दूषित कर देता है। वेद ऐसे व्यक्तिको समाजका शत्रु कहता है। उसे जितनी जल्दी समाजसे हटाया जा सके, उतना ही अच्छा होता है। पर यदि वह समझा-बुझाकर सुपथ पर लाया जा सके तो बुद्धजनोंको इसकी चेष्टा करनी चाहिये। किंतु यदि वह नहीं समझता है तो कारागारमें बन्द करनेयोग्य समझा जाना चाहिये। समाजसे बहिष्कृत ऐसा व्यक्ति समाजमें रहने योग्य नहीं है। राजसत्ता उसे कारागारमें बन्द कर दे तो समाजमें कालुष्य नहीं बढ़ सकता।

राज्यशासनमें सच्चे क्षत्रियोंको स्थान मिलना चाहिये। क्षत्रियका अर्थ है—प्रजाकी क्षतों—घावोंसे रक्षा करनेवाला। एक दुष्कर्मा दस्यु जब अपने-जैसे कई व्यक्तियोंको मिलाकर दल बना लेता है और खुलकर पापाचार, लूटमार, हत्या, षड्यन्त्र आदिमें अपने दल-बलके साथ भाग लेता है, तब उसे राज्यको, शासन-तन्त्रको निर्मूल करनेके लिये कटिबद्ध होना चाहिये। प्रजा पीड़ित हो रही हो और शासन चुप्पी साधे हुए हो तो समझ लेना चाहिये कि क्षत्रिय इस क्षितिपर नहीं रह गये। डाका पड़ रहा है, दीन मारे जा रहे हैं, अबलाकी लाज लुट रही है और समाज या सरकारी कर्मचारी खड़े-खड़े देख रहे हों या अनाचारको बढ़ावा दे रहे हों तो देशका वर्तमान और भविष्य दोनों ही अन्धकारमय समझना चाहिये। ऐसा देश या तो राक्षसों, पापियों, अनाचारियोंके हाथोंमें पड़कर ध्वस्त हो जाता है या नारकीय यन्त्रणाओंसे ऊबकर, पिसकर,

पराधीनताकी बेड़ियोंमें जकड़ दिया जाता है। यह शाश्वत सत्य है।

इतिहासमें ऐसे अवसर कई बार आये हैं, जब पूरा समाज भ्रष्ट हुआ है, व्यवस्था नष्ट हुई है, प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी है। व्यासने महाभारत-युद्धके समय समाजके ऐसे ही रूपका दर्शन किया था। पुष्यमित्रके राज्यकालके कुछ पूर्व भी ऐसी ही दुर्दशा छा गयी थी। विदेशी ऐसी विकृत, द्वेष-जर्जर, दुराचार-दूषित दशासे लाभ उठाते हैं, तथापि सत् सदैवके लिये तिरोहित नहीं हो जाता। दुराचारमें भी सदाचार कहीं-न-कहीं बचा रहता है और वह जाग्रत् होकर दोषोंके दूरीकरणमें, दमनमें संलग्न हो जाता है। पुरुपार्थ-पुंगव पृथु ऐसे सदाचारके ही संरक्षक सिद्ध हुए थे। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण ऐसे ही मर्यादा-संस्थापक पुरुषोत्तम थे। पुष्यमित्र और विक्रमादित्य ऐसे ही प्रजानुरञ्जक आर्यत्व-प्रतिष्ठापक वीर थे। असत् बढ़ता है, पर अपने विनाशके बीज साथ लेकर चलता है। शोषण पनपता है, पर वह स्वयं सूखाद्वारा निहत होता है। प्रभुकी सृष्टिमें धर्मकी ग्लानि, सत्का ह्रास, साधुओंका सन्त्रास टिका नहीं रहता। भगवान्‌की विशाल बाहुएँ प्रजाकी रक्षाके लिये फैली हुई हैं। वर्गवाद और जातिवादकी संकीर्णता विनष्ट होकर रहती है। मानवताका पथ चिरकालतक अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। विश्वकी व्यवस्था मानव-समाजको व्यवस्थित रखनेके लिये सतत-संकेत देती रहती है, जिससे और विघटनमें संघटन (Chos) या विनाशमें निर्माण (Cosmos) होता रहता है।

काली-काली घन-घटाएँ घिरकर सूर्यके आलोकपर आवरण डाल देती हैं। प्रभञ्जनके झोंके वृक्ष-वनस्पतियोंको झकझोर देते हैं, हरीतिमाको जर्जर बना देते हैं। ज्वालामुखी फूटते हैं, भूचाल आते हैं और एक बार तो विनाशकी वेला उपस्थित कर ही देते हैं; पर प्रभुके विधानमें सूर्य पुनः निकलता है, मन्द-मन्द मलयानिल चलकर फिर सबको विश्राम और आनन्द प्रदान करता है, खंडहर प्रासादोंमें परिणत होते हैं, द्वेषदाह दूर होकर मानवताका शान्त अन्तस्तल खिल उठता है। चोरी-डकैती-अत्याचार-आतङ्क आदिका ताण्डव समाप्त होता है, प्रजा अपने-अपने कर्मोंमें निरत होकर समाजको सुखसे सम्पन्न कर देती है, पर इसके लिये बलिदान करना पड़ता है, आहुतियाँ चढ़ानी पड़ती हैं, बिना किये तो कुछ भी नहीं होता। यही तो कर्मकी महिमा है।

अतः अकर्म, विकर्म और दुष्कर्म नहीं, कर्तव्य करणीय और सुकर्म मानवद्वारा किये जाने चाहिये। सुकर्मके मूलमें मनके शिव संकल्प हैं, भद्र क्रतु या प्रज्ञा है, ऋत पथ है, सरल स्वभाव है। हम यहाँ उन्नयनके लिये उत्पन्न हुए हैं, नीचे गिरनेके लिये नहीं। उन्नयनके लिये, मनुष्यताकी सिद्धिके लिये, स्वस्ति और शान्तिके प्रसारके लिये हमें शोभन कर्म ही करने हैं। शोभन कर्मोंके लिये मनको शोभन, निर्मल बनाना होगा। यह मन, जिसमें संज्ञान, प्रज्ञान, चेतना, धृति, ज्योति आदि सब निधियाँ भरी पड़ी हैं, यदि अपने शिवरूपके साथ हमारा प्रेरक बन गया, तो हम मानव सच्चे अर्थोंमें मानव बन सकेंगे—**'मनुर्भव, जनया दैव्यं जनम्, न सो हविरसि प्रजापतेर्वर्णः।'** (तैत्तिरीय सं० ३। ४। २। १०-११) इत्यादि मन्त्रपङ्क्तियाँ हमारा प्रवेश दिव्यतामें करा देंगी और हम सब दुःख एवं दुरितसे दूर होकर परमानन्दके भागी बन सकेंगे।

कर्मयोगी लोकमान्य-तिलक

(लेखक—पं० श्रीपरमानन्दजी पाण्डेय)

इस पुण्यभूमिमें समय-समयपर ऐसे कर्मयोगी महात्माओंका अवतार होता रहा है; जो अपने लिये नहीं, बल्कि समाज, राष्ट्र और विश्वके लिये जीवन धारण करते हैं। लोकमान्य तिलक एक ऐसे ही कर्मयोगी थे। वे बचपनसे ही मेधावी थे। उन्होंने बारह वर्षकी अवस्थामें ही संस्कृतकी अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली थी। कालेजमें आनेपर उनकी साहित्य और गणितमें समान गति देखी गयी। डेकन कालेजमें प्रथम वर्षकी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके बाद अंग्रेजीके अध्ययनके लिये ये एलफिन्स्टन कॉलेज, बम्बई चले गये। किंतु एलफिन्स्टन कॉलेजमें तिलकजीका मन नहीं लगा और वे पुनः डेकन कॉलिजमें आ गये। यहाँ गणितके अतिरिक्त खगोलशास्त्रके अध्ययनकी ओर उनकी अभिरुचि हुई। गणित और खगोलशास्त्रमें उनकी विलक्षण मेधाको देखकर प्रो० छत्रे अत्यन्त प्रभावित थे। कहा जाता है कि अन्तिम अवस्थामें जब छात्र-समुदायने प्रो० छत्रेसे पूछा कि 'आपके बाद खगोल-विद्याका क्या होगा?' उन्होंने इसपर उत्तर दिया कि 'यदि तिलक चाहेगा तो बहुत कुछ कर सकेगा।'

डेकन कॉलिजमें वकालत पढ़ते समय एक एम्० ए०के छात्र श्रीगोपाल गणेश आगरकरसे तिलकजीकी मैत्री हो गयी। यहींसे उनका सार्वजनिक राष्ट्रिय-जीवनका प्रारम्भ हुआ। इसी समय राष्ट्रवादी विष्णुशास्त्री चिपलुणकरने सरकारी नौकरीसे पदत्याग कर दिया था। ये मराठी साहित्यके एक विख्यात विद्वान् और लेखक थे। इन लोगोंने सन् १८०० ई०की पहली जनवरीको एक स्कूल खोला जिसका नाम 'न्यू इङ्गलिश स्कूल' रखा गया। स्कूलका उद्देश्य था—'देशवासियोंको अनुकूल शिक्षा मिले, उन्हें भारतीय संस्कृति एवं देशकी वर्तमान स्थितिकी जानकारी हो, शिक्षाका माध्यम मातृभाषा हो तथा साहबी रीति-नीति एवं वेशभूषाका परित्याग किया जाय। संस्कृतके सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं कोशकार श्रीवामन शिवराम आप्टे इस स्कूलमें आ गये। तिलक स्वयं गणित पढ़ाते थे। यह विद्यालय अत्यधिक लोकप्रिय हो गया और कुछ ही वर्षोंमें इसकी छात्रसंख्या हजारके लगभग पहुँच गयी। प्रथम वर्षमें ही इसकी मैट्रिक परीक्षाका फल ७५ प्रतिशत तथा द्वितीयवर्षमें ८६ प्रतिशत हो गया। स्कूलकी अद्भुत सफलता देखकर तत्कालीन शिक्षा-आयोगके अध्यक्ष सर विलियम हंटरने कहा था—'....सारे भारतमें इसकी बराबरी करने-वाला एक भी स्कूल देखनेमें नहीं आया। ....दूसरे देशोंसे तुलना करनेपर भी इसीका नम्बर ऊपर आयेगा।' इस विद्यालयके माध्यमसे वास्तवमें देशके बालकोंको राष्ट्रियता एवं स्वावलम्बनकी शिक्षा मिलती थी। केवल 'अंग्रेजी हुकूमतको चलानेके लिये मुलाजिमोंको पैदा करना' इसका उद्देश्य नहीं था। इस तथ्यको स्वीकारते हुए प्रो० वर्डस्वर्थने कहा था—'सुशिक्षित लोग सरकारी नौकरीकी अपेक्षा न रखकर तमाम व्यवसायोंमें स्वावलम्बनके आधारपर उच्चस्थान और कीर्ति प्राप्त करें, इससे अधिक उदार-भावना और क्या हो सकती है!

शिक्षासे विद्याप्राप्ति और विद्यासे भक्तिलाभ 'सा विद्या या विमुक्तये'की प्रक्रियामें यह आवश्यक था कि देशमें इस पद्धतिका विकास मूलतः प्रचलित शैलीपर किया जाय; अतः इसके बाद कालेज खोलनेका निश्चय किया गया और अर्थ-संग्रहका भार उक्त दोनों महानुभावोंको सौंपा गया। इन लोगोंने महाराष्ट्रकी देशी रियासतोंसे चंदा करके ५० हजार रुपये संगृहीत किये और बम्बईके

तत्कालीन गवर्नरके नामपर 'फरग्यूसन-कालेज'की स्थापना हुई। सन् १८८० ई०की जनवरीसे इसमें प्रथमवर्ष इंटरमीडिएटकी पढ़ाई विधिवत् शुरू कर दी गयी। यह शिक्षण-संस्था भी अपने-आपमें अद्वितीय थी। फिर ये तथा इनके साथियोंने लोकशिक्षाके माध्यम-के रूपमें अंग्रेजीमें 'मराठा' और मराठीमें 'केसरी' नामक पत्र निकालनेका निश्चय किया। इन दोनों पत्रोंका विज्ञापन 'नेटिव ओपिनियन' नामक पत्रमें प्रकाशित किया गया था, जिसमें स्वतन्त्र विचारधारा और निर्भीक पत्रकारिताकी स्पष्ट घोषणा की गयी थी। इन पत्रोंने देशवासियोंको जागरूक किया और निष्काम-कर्म—कर्तव्यकी प्रेरणा दी।

'मराठा' और 'केसरी' के द्वारा देशकी जो सेवा की गयी, वह सर्वविदित और चिरस्मरणीय है। इन पत्रोंके सम्पादकके रूपमें लोकमान्य तिलकने विविध विषयोंपर अनेक लेख लिखकर भारतीय जनताको राष्ट्रियता एवं स्वावलम्बनकी शिक्षा देनेका पुनीत कार्य किया। देशमें कर्मण्यता, निष्कामता और कर्तव्यशीलता लानेके लिये लोकमान्यने माण्डलेके कारागारमें रहकर 'गीता-रहस्य' ('कर्मयोगशास्त्र') का प्रणयन किया। उन्होंने गीताका मुख्य प्रतिपाद्य ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग निरूपितकर विश्वको निष्कामकर्मयोगकी दिशामें चलनेकी प्रबल प्रेरणा दी। इस प्रकार उन्होंने देशवासियोंको कर्मकी ओर प्रवृत्त किया। देशमें गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्रका महत्त्व-पूर्ण प्रभाव पड़ा जिससे वर्तमानयुगके पिछले खेवेके अनेक नेता कर्मयोगीके रूपमें जनकल्याणके क्षेत्रमें उतरे और उन्होंने भविष्यकी पीढ़ियोंके लिये निष्काम-कर्मका उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया।

लोकमान्य-तिलकने देशवासियोंकी दुर्दशा देखकर न्याय और कर्तव्यबुद्धिसे स्वराज्यकी शिक्षा देते हुए बताया कि 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' स्मरणीय है कि उस समय 'लाल' 'बाल' 'पाल'—लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक और विपिनचन्द्रपाल—ये तीनों स्वार्थरहित (निष्काम) देशसेवामें लगे प्रसिद्ध नेता थे।

भारत सदासे जगद्गुरु रहा है। निष्काम-कर्मको कर्त्तव्यबुद्ध्या अथवा भगवदर्थबुद्ध्या करनेके लिये प्रेरणाप्रद 'कर्मयोगशास्त्र' लिखकर और अपने जीवनको उस पथपर चलाकर तिलकने अधिकारकी अपेक्षा कर्त्तव्यपर विशेष बल दिया। १९२०में उनका निधन हुआ। देशका महान् निष्काम-कर्मयोगी उठ गया।

गीता और कर्मयोग

भारतीय सभ्यताके ऐतिहासिक युगमें भारत महासंग्रामके आरम्भके समय पाण्डव-सेनाके सर्वप्रधान नेता अर्जुन जब आसुरभावोंकी प्रबलतासे विक्षिप्तचित्त होकर किंकर्तव्यविमूढ़ बन गये थे, तब अधर्मका निराकरण और धर्मकी संस्थापनाके लिये अवतीर्ण करुणामय स्वयं श्रीभगवान्ने अर्जुनको धर्मयुद्धमें प्रवर्तितकर चिरकालके लिये पृथ्वीपर धर्मराज्यकी संस्थापना करके उस महासंग्रामके मूलोच्छेदके लिये जो दिव्य उपदेश प्रदान किया था, उसीका नाम है श्रीमद्भगवद्गीता। यही भगवद्गीताका एकमात्र प्रतिपाद्य कर्मयोग है। आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिके साथ-साथ प्रत्येक मनुष्यकी ब्राह्मी स्थिति इस कर्मयोगका मुख्य प्रयोजन है। इस मुख्य प्रयोजनको प्राप्त करनेका एकमात्र साधन है—कर्तृत्वाभिमानको दूर करते हुए सर्व कर्मोंके अनुष्ठानके समय सर्वनियन्ता सर्वेश्वर श्रीभगवान्की शरणागति। यही बात अष्टादश अध्यायके अन्तमें उपसंहारके समय श्रीभगवान्ने दैवीसम्पद्-अधिरूढ़ परम भक्त श्रीअर्जुनको बतलायी है।

(—महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण-भट्टाचार्य, गीतातत्त्वाङ्क)

निष्कामताकी साधनामें तीन बातें

(३)

तीनसे घृणा न करो—(१) रोगीसे, (२) आर्तसे और (३) नीची जातिवालोंसे ।

तीन जगह मत जाओ—(१) वेश्यालय, (२) जुआड़खाना और (३) कलालके घर ।

तीनसे व्यङ्ग्य-विनोद न करो—(१) अङ्गहीनसे, (२) विधवा या अनाथसे और (३) दीन-दुःखी प्राणीसे ।

तीन नरकके दरवाजोंमें कभी मत घुसो—(१) काम, (२) क्रोध और (३) लोभके ।

तीनको गुरु न बनाओ—(१) स्त्रीसेवीको, (२) धनके लालचीको और (३) दाम्भिकको ।

तीनका चिन्तन न करो—(१) स्त्रीका, (२) धनका और (३) नास्तिकका ।

तीनपर आस्था न करो—(१) कूटनीतिपर, (२) दुराचारपर और (३) असत्यपर ।

तीन बातोंको भूल जाओ—(१) अपनेद्वारा किये हुए किसीके उपकारको (२) दूसरेके द्वारा किये हुए अपने अपकारको और (३) धन-मान, साधन आदिके कारण अपनी ऊँची स्थितिको ।

तीन न बनो—(१) कृतघ्न, (२) दाम्भिक और (३) नास्तिक ।

तीन बातोंको मत देखो—(१)अपने गुणोंको, (२) दूसरोंके दोषको और (३) जीवोंकी रतिक्रीड़ाको ।

तीनके सामने नम्र रहो—(१)गुरुजनके, (२) विद्वान्‌के और (३) राजपुरुषके ।

तीन उपवास करो—(१) एकादशीको (२) पूर्णिमाको और (३) अमावस्याको ।

तीनको हृदयसे निकाल दो—(१) रागको (२) द्वेषको और (३) मत्सरको ।

तीन बातोंसे सदा बचो—(१) आत्म-प्रशंसासे, (२) परनिन्दासे और (३) परदोष-दर्शनसे ।

तीन बातोंसे सदा अलग रहो—(१) परचर्चासे, (२) वाद-विवादसे और (३) नेतागिरीसे । (आजकी नेतागिरी तो और भी आदर्श-जीवनके लिये अभिशाप है ।)

तीनपर दया न करो—(१) अपने पापपर, (२) आलस्यपर और (३) उच्छृङ्खलतापर ।

तीन बातोंमें शङ्का न करो—(१) शास्त्र-वचनमें, (२) गुरु-वचन में और (३) शुद्ध मनकी प्रेरणामें ।

तीनका संग छोड़ दो—(१) व्यभिचारीका, (२) जुआरीका और (३) लबारीका ।

तीन प्रकारके लोगोंसे दूर रहो—(१) नास्तिकसे, (२) माता-पिता-गुरुका द्रोह करनेवालोंसे और (३) संत-पुरुषोंकी निन्दा करनेवालोंसे ।

तीन कामोंको ढीलमें छोड़ दो—(१) मुकदमेबाजीको, (२) विवादको और (३) किसीके दोष-निर्णयको ।

तीन बननेसे बचो—(१) महन्त, (२) दीक्षा देनेवाले गुरु और (३) मालिक या नेता ।

तीन आदमियोंको मत रोको—(१) दाताको, (२) दूसरोंकी सेवा करनेवालेको और (३) जल्दीसे दौड़कर सेवा करनेवालेंको ।

तीन आवेशोंके समय कोई भी क्रिया करनेसे रुक जाओ—(१) क्रोधके समय, (२) कामवासनाके समय और (३) लोभाभिभूत होनेके समय ।

तीन बातोंका दुराग्रह न करो—(१) सम्प्रदायका, (२) वेषका और (३) अपने मतका ।

निष्कामिनी पतिव्रता भामती

रात्रिका समय है। दक्षिणभारतके एक छोटे-से गाँवकी एक छोटी-सी कोठरीमें रेंड़ीके तेलका दीपक जल रहा है। कोठरीका कच्चा आँगन और मिट्टीकी दीवालें गोबरसे लिपी-पुती बड़ी स्वच्छ और सुन्दर दिखायी दे रही हैं। एक कोनेमें कुछ मिट्टी पड़ी है। एक ओर पानीका घड़ा रक्खा है। दूसरे कोनेमें एक चक्की, मिट्टीके कुछ बरतन और छोटी-सी एक चारपाई पड़ी है। दीपकके समीप कुशके आसनपर एक पण्डितजी बैठे हैं। पास ही मिट्टीकी दावात रक्खी है और हाथमें कलम लिये वे बड़ी एकाग्रतासे लिख रहे हैं। बीच-बीचमें पास रक्खी पुस्तकोंके पन्ने उलट-पलटकर पढ़ते हैं, फिर उन्हें रखकर आँखें मूँद लेते हैं। कुछ देर गहरा विचार करनेके पश्चात् पुनः आँखें खोलकर लिखने लगते हैं। इतनेमें दीपकका तेल बहुत कम हो जानेके कारण बत्तीपर गुल आ जाता है और प्रकाश मन्द पड़ जाता है। इसी बीच एक प्रौढ़ स्त्री आकर दीपकमें तेल भर देती है और वह बत्तीसे गुल झाड़ने लगती है। ऐसा करते दीपक बुझ जाता है। पण्डितजीका हाथ अँधेरेमें रुक जाता है। स्त्री बत्ती जलाकर तुरंत वहाँसे लौटने लगती है कि पण्डितजीकी दृष्टि उधर चली जाती है। वे कौतूहलमें भरकर पूछते हैं—'देवि! आप कौन हैं?' आप अपना काम कीजिये। दीपक बुझनेसे आपके काममें विघ्न हुआ, इसके लिये क्षमा चाहती हूँ।'—स्त्री जाते-जाते बड़ी नम्रतासे कहती है। 'परंतु ठहरें, बताइये तो आप कौन हैं और यहाँ क्यों आयी हैं?' पण्डितजी बल देकर पूछते हैं। स्त्री कहती है—'महाराज! आपके काममें विघ्न पड़ रहा है, इस विक्षेपके लिये मैं बड़ी अपराधिनी हूँ।'

अब तो पण्डितजीने पन्ने नीचे रख दिये, कलम भी रख दी, मानो उन्हें जीवनका कोई नया तत्त्व प्राप्त हुआ हो। वे बड़ी आतुरतासे बोले—'नहीं, नहीं आप अपना परिचय दीजिये। जबतक परिचय नहीं देंगी, मैं पन्ना हाथमें नहीं लूँगा।' स्त्री सकुचायी, उसके नेत्र नीचे हो गये और बड़ी ही विनयके साथ उसने कहा—'स्वामिन्! मैं आपकी परिणीता पत्नी हूँ, मुझे 'आप' कहकर आप मुझपर पाप न लादिये।' पण्डितजी आश्चर्यचकित होकर बोले—'हैं, मेरी पत्नी! विवाह कब हुआ था?' स्त्रीने कहा—'लगभग पचास साल हुए होंगे, तबसे दासी आपके चरणोंमें ही है।' पण्डितजी ब्रह्मसूत्रके भाष्यकी रचनामें दिन-रात एक किये विचारमग्न रहते थे। उन्हें क्या पता कि उनका विवाह कब किससे क्यों हुआ? निःसङ्गताकी प्रतिमूर्ति बन गये थे। उन्होंने पूछा—'तुम इतने वर्षोंसे मेरे साथ रहती हो, मुझे आजतक इसका पता कैसे नहीं लगा?'

स्त्री—प्राणनाथ! आपने विवाहमण्डपमें दाहिने हाथसे मेरा बायाँ हाथ पकड़ा था और आपके बायें हाथमें ये पन्ने थे। विवाह हो गया, पर आप इन पन्नोंमें संलग्न रहे। तबसे आप और आपके ये पन्ने नित्य-सङ्गी बने हुए हैं। इनके सिवाय आपके लिये मानो और कुछ है ही नहीं। अनन्य मनोयोगके कारण आप इन पन्नोंमें ही गड़े रहे हैं।

पण्डितजी—पचास वर्षका लंबा समय तुमने कैसे विताया? मैं तुम्हारा पति हूँ, यह बात तुमने इससे पहले मुझको क्यों नहीं बतलायी?

स्त्री—प्राणेश्वर! आप दिन-रात अपने काममें लगे रहते थे और मैं अपने काममें। मुझे बड़ा सुख मिलता था इसीमें कि आपका कार्य निर्विघ्न चल रहा है। आज दीपक बुझनेसे विघ्न हो गया। इसीसे यह प्रसङ्ग आ गया।

पण्डितजी—तुम प्रतिदिन क्या करती रहती थी?

स्त्री—नाथ ! और क्या करती, जहाँतक बनता, स्वामीके कार्यको निर्विघ्न रखनेका प्रयत्न करती । प्रातः-काल आपके जागनेसे पहले उठकर धीरे-धीरे चक्की चलाती । आप उठते तब आपके शौच-स्नानके लिये जल दे देती । तदनन्तर संध्या आदिकी व्यवस्था करती, फिर भोजनका प्रबन्ध होता । रातको पढ़ते-पढ़ते आप सो जाते, तब मैं पोथियाँ बाँधकर ठिकाने रखती और आपके सिरहाने एक तकिया लगा देती एवं आपके चरण दबाते-दबाते वहीं चरणप्रान्तमें ही सो जाती ।

पण्डितजी—मैंने तो तुमको कभी नहीं देखा ।

स्त्री—देखना अकेली आँखोंसे थोड़े ही होता है, उसके लिये मन चाहिये । दृष्टिके साथ मन न हो तो फिर-चक्षु-गोलक कैसे किसीको देख सकते हैं । चीज सामने रहती है, पर दिखायी नहीं देती । आपका मन तो नित्य-निरन्तर तल्लीन रहता है—अध्ययन, मनन और लेखनमें । फिर आप मुझे कैसे देखते । (मन और चक्षु-रिन्द्रियका सन्निकर्ष तो प्रस्तूयमान भाष्यसे था ।)

पण्डितजी—अच्छा, तो हमलोगोंके खान-पानकी व्यवस्था कैसे होती है ?

स्त्री—दोपहरको अवकाशके समय अड़ोस-पड़ोसकी लड़कियोंको बेल-बूटे निकालना तथा संगीत सिखा आती हूँ और वे सब अपने-अपने घरोंसे चावल, दाल, गेहूँ आदि ला देती हैं, उसीसे निर्वाह होता है ।

यह सुनकर पण्डितजीका हृदय भर आया, वे उठकर खड़े हो गये और गद्गदकण्ठसे बोले—'तुम्हारा नाम क्या है, देवि ?' स्त्रीने कहा—भामती । भामती ! भामती !! मुझे क्षमा करो, पचास-पचास सालतक चुपचाप सेवा ग्रहण करनेवाले और सेविकाकी ओर आँख उठाकर देखने-तककी शिष्टता न करनेवाले इस पापीको क्षमा करो'—यों कहते हुए पण्डितजी भामतीके चरणोंपर गिरने लगे ।

भामतीने पीछे हटकर नम्रतासे कहा—'देव ! आप इस प्रकार बोलकर मुझे पापग्रस्त न कीजिये । आपने मेरी ओर दृष्टि डाली होती तो आज मैं मनुष्य न रहकर विषयविमुग्ध पशु बन गयी होती । आपने मुझे पशु बननेसे बचाकर मनुष्य ही रहने दिया, यह तो आपका अनुग्रह है । नाथ ! आपका सारा जीवन शास्त्रके अध्ययन और लेखनमें बीता है । मुझे उसमें आपके अनुग्रहसे जो यत्किञ्चित् सेवा करनेका सुअवसर मिला है, यह तो मेरा महान् भाग्य है । किसी दूसरे घरमें विवाह हुआ होता तो मैं संसारके प्रपञ्चमें कितना फँस जाती । और, पता नहीं, शूकर-कूकरकी भाँति कितनी वंश-वृद्धि होती । आपकी तपश्चर्यासे मैं भी पवित्र बन गयी । यह सब आपका ही प्रताप और प्रसाद है । अब आप कृपापूर्वक अपने अध्ययन-लेखनमें लगिये । मुझे सदाके लिये भूल जाइये ।' यों कहकर वह जाने लगी ।

पण्डितजी—भामती ! भामती !! तनिक रुक जाओ, मेरी बात तो सुनो ।

भामती—नाथ ! आप अपनी जीवनसङ्गिनी साधनाका विस्मरण करके क्यों मोहके गर्तमें गिरते हैं और मुझको भी क्यों इस पाप-पङ्कमें फँसाते हैं ।

पण्डितजी—भामती ! मैं तुझे पाप-पङ्कमें नहीं फँसाना चाहता । मैं तो अपने लिये सोच रहा हूँ कि मैं पाप-गर्तमें गिरा हूँ या किसी ऊँचाईपर स्थित हूँ ।

भामती—नाथ ! आप तो देवता हैं । आप जो कुछ लिखेंगे, उससे जगत्का उद्धार होगा । (आपकी टीकासे कितनोंको आत्मज्ञान होकर निःश्रेयसकी प्राप्ति होगी । आपके मनन-चिन्तन संसारका कल्याण बनेंगे ।)

पण्डितजी—'भामती ! तुम सच मानो । भगवान् व्यासने वर्षों तप करनेके बाद इस वेदान्त-दर्शन ग्रन्थकी रचना की और मैंने जीवनभर इसका पठन एवं मनन

किया; परंतु तुम विश्वास करो कि मेरा यह समस्त पठन, मनन, मेरा समग्र विवेक, यह सारा वेदान्त तुम्हारे पवित्र सहज तपोमय जीवनकी तुलनामें सर्वथा नगण्य है। तुम्हारी निष्काम सेवाने तुम्हें निष्काम कर्मयोगिनी बना दिया है। तुम धन्य हो देवि! व्यास भगवान्‌ने ग्रन्थ लिखा, मैंने पठन-मनन किया, परंतु तुम तो मूर्तिमान् वेदान्त हो।' यों कहते-कहते पण्डितजी पुनः उसके चरणोंपर गिरने लगे। भामतीने उन्हें उठाकर विनम्रभावसे कहा—'पतिदेव! यह क्या कर रहे हैं? मैंने तो अपने जीवनमें भी आपकी सेवाके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहा है। आपने मुझ-जैसीको ऐसी सेवाका सुअवसर दिया, यह आपका मुझपर महान् उपकार है। आजतक मैं प्रतिदिन आपके चरणोंमें सुखसे सोकर नींद लेती रहीं हूँ, यों इन चरणोंमें ही सोती-सोती महानिद्रामें पहुँच जाऊँ तो मेरा महान् भाग्य हो।'

पण्डितजी—भामती देवि! सुनो, मैंने अपना सारा जीवन इन पन्नोंके लिखनेमें ही बिता दिया। परंतु तुमने मेरे पीछे जैसा जीवन बिताया है, उसके सामने मुझे अपना जीवन अत्यन्त क्षुद्र और नगण्य प्रतीत हो रहा है। मुझे इस ग्रन्थके एक-एक पन्नेमें, एक-एक पंक्तिमें और अक्षर-अक्षरमें तुम्हारा जीवन दीख रहा है। अतः जगत्‌में यह ग्रन्थ अब तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगा। तुमने मेरे लिये अपूर्व त्याग किया, उसकी चिरस्मृतिके लिये मेरा यह अनुरोध स्वीकार करो। 'प्रभो! आप ऐसा कीजिये जिसमें आपके अतुलनीय आत्मत्यागके सामने मुझ-जैसे क्षुद्र मनुष्यको जगत् भूल जाय। आप अपने काममें लगिये, देव!' यों कहकर भामती जाने लगी। तब तुमको 'जहाँ जाना हो, जाओ। परंतु अब मैं जीवित मूर्तिमान् वेदान्तको छोड़कर वेदान्तके मृत शवका स्पर्श नहीं करना चाहता।' यों कहकर पण्डितजीने पोथी-पत्रे बाँध दिये।

पण्डितजीके द्वारा रचित महान् ग्रन्थ वेदान्त-दर्शन-(ब्रह्मसूत्र-)का अपूर्व भाष्य आज भी वेदान्तका एक अप्रतिम रत्न माना जाता है। इस ग्रन्थका नाम है 'भामती' और इसके लेखक हैं—प्रसिद्ध पण्डितशिरोमणि श्रीवाचस्पति मिश्र। ज्ञानकी इस अतुलनीय राशिमें पण्डितजीकी निष्कामिनी पतिव्रतपरायणा पत्नी भामतीकी तपस्या पण्डितजीके स्वाध्याय-निष्ठ तपसे किसी भी अंशमें कम नहीं आकूती जा सकती। धन्य है 'भामती और धन्य है भामतीकी विभूतिमती निष्काम तपस्या!

धन्य पति-प्रेम

संसारकी पतिव्रता देवियोंमें गान्धारीका स्थान बहुत ऊँचा है। ये गान्धारराज सुबलकी पुत्री और शकुनिकी बहन थीं। इन्होंने कुमारी-अवस्थामें ही भगवान् शंकरकी बड़ी आराधना की थी और उनसे सौ पुत्रोंका वरदान प्राप्त किया था। जब इन्हें मालूम हुआ कि इनका विवाह नेत्रहीन धृतराष्ट्रसे होनेवाला है, तबसे ही इन्होंने अपनी दोनों आँखोंपर पट्टी बाँध ली। इन्होंने सोचा कि जब मेरे पति ही नेत्रसुखसे वञ्चित हैं, तब मुझे संसारको देखनेका क्या अधिकार है। उस समयसे जबतक ये जीवित रहीं, अपने उस दृढ़ निश्चयपर अटल रहीं। पतिके लिये इन्द्रियसुखके त्यागका ऐसा अनूठा उदाहरण संसारके इतिहासमें अन्यत्र दुर्लभ है। इनका यह तप और त्याग अनुपम था, संसारके लिये एक अनोखी वस्तु थी। ये सदा अपने पतिके अनुकूल रहीं। इन्होंने ससुरालमें आते ही अपने चरित्र और सद्गुणोंसे पति एवं उनके सारे परिवारको मुग्ध कर लिया। धन्य पति-प्रेम।

(त० चि०)

अमृत-बिन्दु

संसारका आश्रय लेनेसे पराधीनता और भगवान्‌का आश्रय लेनेसे स्वाधीनता प्राप्त होती है।

जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे सब मनुष्यके बनाये हुए हैं, भगवान्‌के नहीं। भगवान् 'सत्' हैं और दुर्गुण-दुराचार 'असत्' हैं। सत्‌से असत्‌की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

सांसारिक वस्तुओंके लिये होनेवाले दुःखकी परवा भगवान् नहीं करते और भगवान्‌के लिये होनेवाले (सच्चे) दुःखको भगवान् सह नहीं सकते।

मनुष्यके उद्धारके लिये दो सार बातें हैं—भगवान्‌का निरन्तर स्मरण और सांसारिक कामनाओंका त्याग।

दूसरोंके अहितसे अपना अहित और दूसरोंके हितसे अपना हित होता है—यह नियम है। कारण यह कि समष्टि सृष्टिके साथ व्यष्टिका अविभाज्य सम्बन्ध है। महात्मा तुलसीदासने कहा है—'ठीक प्रतीति कहे तुलसी, जग होत भलेको भलाइ भलाई।'

निषिद्ध कर्मोंको करते हुए कोई व्यक्ति 'साधक' नहीं बन सकता।

प्रत्येक मनुष्यको भगवान्‌की तरफ चलना ही पड़ेगा, चाहे आज चले या अनेक जन्मोंके बाद। तो फिर देरी क्यों? मनुष्य-जन्म सदा नहीं मिलता।

सच्चे हृदयसे भगवान्‌को चाहनेवाला मनुष्य किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, परिस्थिति आदिमें क्यों न हो और कितना ही पापी, दुराचारी क्यों न हो, वह भगवत्प्राप्तिका पूर्ण अधिकारी है—यदि साधना-पथपर चल पड़े।

साधक संसारसे कभी आशा नहीं रखे; क्योंकि वह निरन्तर नहीं रहता और परमात्मासे कभी निराश न हो; क्योंकि उसका कभी अभाव नहीं होता।

संसारसे 'सर्वथा' राग हटते ही भगवान्‌में 'अनुराग' (प्रेम) हो जाता है। संसारका राग परमेश्वरके अनुरागमें बाधक होता है।

परमात्म-प्राप्ति होनेमें सबसे बड़ी बाधा है—भोग और संग्रहकी रुचि। दूसरोंके सुखसे सुखी होनेपर 'भोग' की रुचि और दूसरोंके दुःखसे दुखी होनेपर 'संग्रह' की रुचि मिट जाती है।

नाशवान् सुखका सर्वथा त्याग करनेसे अविनाशी सुखकी प्राप्ति हो जाती है।

मेरा कुछ नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिये और मुझे अपने लिये कुछ नहीं करना है—ये तीन बातें शीघ्र उद्धार करनेवाली हैं। मूलतः ममता और कामनाका त्याग श्रेयस्कर है।

भगवान्‌से विमुख होनेपर ही मनुष्यको जानने, पाने और करनेकी कमीका अनुभव होता है।

ममता, आसक्ति, अभिमान और विषमता—इनके रहनेसे मनुष्यको कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान नहीं होता। कर्त्तव्य-ज्ञान न होनेसे कर्तव्य-च्युति हो जाती है।

'ममता'से विकार, 'कामना'से अशान्ति एवं 'तादात्म्य'से परिच्छिन्नता उत्पन्न होती है। अतः इन तीनोंके सर्वथा त्यागसे तत्काल मुक्ति होती है।

मुक्तिकी कामना कामना नहीं मानी जाती, पर कुछ उत्कृष्ट कोटिके निष्कामी मुक्तिकी भी कामना नहीं करते।

मुक्तिकी कामना नहीं करनेवाले दो होते हैं—(१) निर्भर भक्ति चाहनेवाले भावुक भक्त और (२) लोक-संग्रही कर्मयोगी।

प्रभुकी विश्वजनीन व्यवस्था शाश्वत है। उसका समुचित संचालन ही लोकसंग्रह है। लोकसंग्रही स्वार्थशून्य परमार्थको ही सर्वस्व मानता है। उसका त्याग आदर्श और अनुकरणीय होता है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

किसीका दोष न देखो

(एक प्रेरक प्रसङ्ग)

भगवान् बुद्धके एक शिष्यने एक दिन भगवान् तथागतके चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर वह खड़ा हो गया। भगवान्ने उससे पूछा—'तुम क्या चाहते हो ?'

शिष्य बोला—'भगवन्! यदि आज्ञा दें, तो मैं देशाटन करना चाहता हूँ।'

भगवान् बुद्ध बोले—'लोगोंमें अच्छे-बुरे सभी प्रकारके मनुष्य होते हैं, बुरे लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे और तुम्हें गालियाँ देंगे, उस समय तुम्हें कैसा लगेगा ?'

शिष्य—'मैं समझ लूँगा कि वे बहुत भले हैं; क्योंकि उन्होंने मुझपर धूलि नहीं फेंकी और मुझे थप्पड़ नहीं मारे।'

भगवान्—'उनमेंसे कुछ लोग धूलि भी फेंक सकते हैं और थप्पड़ भी मार सकते हैं ?'

शिष्य—'मैं उन्हें भी इसलिये भला समझूँगा कि वे मुझे डंडे नहीं मारते।'

भगवान्—'डंडे मारनेवाले भी दस-पाँच मनुष्य मिल सकते हैं ?'

शिष्य—'वे मुझे हथियारोंसे नहीं मारते, इसलिये वे भी मुझे भले जान पड़ेंगे।'

भगवान्—'देश बहुत बड़ा है। जंगलोंमें ठग और डाकू रहते हैं, डाकू तुम्हें हथियारोंसे मार सकते हैं, तब तुम क्या करोगे ?'

शिष्य—'वे डाकू भी मुझे दयालु जान पड़ेंगे; क्योंकि मैं समझूँगा कि उन्होंने मुझे जीवित तो छोड़ दिया।'

भगवान्—'यह कैसे जानते हो कि डाकू जीवित ही छोड़ देंगे, वे प्राणान्त भी कर सकते हैं।'

शिष्य—'भगवन्! यह संसार दुःखरूप है। इसमें बहुत दिनोंतक जीवित रहनेसे दुःख-ही-दुःख प्राप्त होता है। आत्महत्या करना तो महापाप है, किंतु यदि कोई दूसरा मार देता है तो यह उसकी दया ही है।'

शिष्यकी बात सुनकर भगवान् बुद्ध प्रसन्न होकर कहने लगे—'अब तुम पर्यटनके योग्य हो गये हो। सच्चा साधु वही है, जो कभी किसी दशामें भी किसीका बुरा नहीं सोचता और दूसरोंकी बुराई नहीं देखता। जो सबको भला समझता और देखता है वही 'परिव्राजक' होने योग्य है। तथागत-(बुद्धदेव-)ने संतुष्ट हो शिष्यको देशाटनकी आज्ञा प्रदान कर दी। (देशाटन सहिष्णुता-साध्य होता है।) —ऋषिमोहन श्रीवास्तव

(२)

स्वावलम्बनसे लक्ष्य-सिद्धि

अपनी भाषामें एक कहावत है—'वसु बिना नर पसु।' तात्पर्य है कि बिना धनके मनुष्य पशुके समान माना जाता है। इस कहावतको झूठी बनाकर—**'मन होय तो मालवे जाय'** वाली कहावत चरितार्थ करनेवाला एक ध्येय-लक्षी, पुरुषार्थी युवककी यह प्रेरक-कथा मनन करने योग्य है।

पूनाके किसी निर्धन परिवारके एक किशोर बालकने बचपनसे एक ध्येय निश्चित किया कि 'मुझे डाक्टर बनना है।' इस प्रकार अपने विचार तथा कल्पनाको संकल्पका रूप देकर उसे सत्य करनेके लिये आवश्यक विद्याभ्यास-हेतु यद्यपि उसके पास धन नहीं था, परन्तु अन्य दूसरे साधन पर्याप्त थे। ये थे बुद्धि, प्रतिभा, लगनशीलता, विनय, उत्साह और अथक परिश्रम करनेकी उत्कट भावना।

उसको जब जहाँ जैसा कार्य मिला, बिना किसी हिचकके उसे उत्साहपूर्वक करके, दूसरोंकी सहायतासे प्राप्त पुस्तकोंको पढ़कर, बीमार होनेपर भी बिना किसी नैराश्य-भावनाके उसने मैट्रिककी परीक्षा प्रथम श्रेणीमें

उत्तीर्ण की; पर अभी मंजिल दूर थी। वह एक प्रेसमें काम करने लगा। मजदूरी करनेसे लेकर प्रूफ पढ़नेतकका कार्य भी वह करता। प्रतिदिन दस घंटे काम करके रातको कालेजमें रात्रिकालीन कक्षाओंमें वह पढ़ता। सच है—**'विद्या परिश्रमाधीना।'**

एक दिन किसी एक परिचित ग्रामीण मजदूर भाईने उसकी लगन, कार्यशीलता और विद्याभ्यासकी निष्ठासे प्रसन्न और उत्साहित होकर कहा—'भैया! हम कुछ पढ़े-लिखे नहीं हैं, इस कारण ऐसा गोरखधंधा करके पेट पालते हैं; परन्तु तुम तो बुद्धिमान हो और तुम्हें पढ़ना ही चाहिये। इसके लिये मैं तुम्हारी कोई दूसरी सहायता तो क्या कर सकता हूँ, परन्तु तुम दौड़-धूप करनेके लिये मेरी साइकिलका उपयोग जब चाहो तब सहर्ष कर सकते हो और इसकी मरम्मत आदि करने-करानेके चक्करमें तुम बिल्कुल मत पड़ना; बस इतनी बात कृपा करके मेरी मान लेना। दूसरे किसी एक वैद्यके मनमें ईश्वरीय प्रेरणा हुई तो उन्होंने अपने पुत्रको 'ट्यूशन' पढ़नेके लिये उसके पास प्रातः ५ बजे भेजना प्रारम्भ कर दिया और बदलेमें पीनेको घरकी गायका ताजा दूध भेज देते। उसके अभ्यास-खर्चकी पूरी फीस वे स्वयं कालेज जाकर भर आते।

इस प्रकार वह पुरुषार्थी युवक अपने परिश्रम तथा दूसरोंके सहयोगसे अपने लक्ष्यकी ओर आगे बढ़ता रहा। परीक्षा प्रारम्भ होनेके प्रथम दिवसतक बहुत राततक वह प्रूफ पढ़ता और अपना अभ्यास भी करता। परिणामस्वरूप वह प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होकर 'आयुर्वेद-स्नातक' हो गया और स्थानीय अस्पतालमें नौकरी करने लगा। नौकरीपर नियुक्त होनेके अन्तिम दिनतक उसने प्रूफरीडिंग की।

एक डाक्टरके रूममें नौकरीपर उपस्थित होनेके लिये तदनुरूप अच्छे कपड़े भी तो चाहिये, जिसकी कोई व्यवस्था उसके पास न थी। बाहरी आडम्बरकी ओर ध्यान देनेका उसके पास समय और पैसा ही कहाँ था। सहानुभूति रखनेवाले कुछ सहृदय मित्रोंने उसकी स्थितिका अनुमानकर, आग्रह करके उसे समुचित कपड़े सिलवा दिये। उनका भाव था—'अपने मित्रकी समयानुसार थोड़ी सेवा बन गयी।' इसमें उन्होंने एक प्रकारके आनन्दका अनुभव किया। उस सद्भावी युवककी कर्मठता, विनम्र स्वभाव, लक्ष्यके प्रति जागरूकता और निश्छल सौहार्द-भावने अनेक लोगोंको उसका अपना बना दिया। अपनी किसी आवश्यकताके लिये उसे कभी किसीको कुछ कहना नहीं पड़ा। लोग उसकी आवश्यकता और स्थितिका आकलन करके स्वयमेव उसकी सहायताके लिये अधीर हो उठते एवं तदर्थ सहयोग या सहायता करके अपने-आपको धन्य अनुभव करते थे।

धन्य है, ऐसे पुरुषार्थी विद्यार्थियोंको जो स्वावलम्बनका आश्रय लेकर अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होनेके साथ ही, दूसरोंको भी अपनी ओर आकर्षितकर भलाईके कार्यमें प्रवृत्त करते हैं। ऐसे किसी भी युवककी जीवन-कथा अपने गरीब देशके विद्यार्थियोंके लिये प्रेरक तथा उत्साहवर्द्धक है।

—चीमनलाल सोमपुरा ('अखण्ड आनन्द')

(३)

कर्तव्य-निष्ठा

गत प्रयागस्थ महाकुम्भ-स्नानके लिये वाराणसीसे ३ जनवरी ७७ को अपराह्नमें हम तीन व्यक्ति—मैं, मेरी धर्मपत्नी और नौकर रघुनाथ—प्रयागके लिये रवाना हुए। भीड़की अधिकताके कारण ट्रेनमें न घुस पाये तो बसद्वारा सायंकाल करीब ६ बजे झूँसी [illegible] पहुँच गये। भीड़-भड़क्केके कारण मेलेमें सभी [illegible] यातायात बन्द हो चुका था। [illegible] कारण [illegible] नहीं [illegible] थी। [illegible] कारण

हम दोनोंकी दृष्टि भी मन्द हो चुकी है। पाँच किलोमीटरकी दूरी तय करके दारागंज पहुँचनेमें डेढ़ घंटा लग गया। सामान लेकर शम्भुनाथ चार कुलियोंके साथ रवाना हुआ। उसे दारागंज रेलपुलके पहले खम्भेके नीचे प्रतीक्षा करनेको कहा गया। रात्रिमें लगभग साढ़े सात बजे वहाँ पहुँचकर वह हमें ढूँढ़ने लगा, परंतु उस जनसमूहमें न वह हमें मिला और न हम ही उसे खोज सके। दोनों एक-दूसरेको ढूँढ़ते रहे। चिन्तित और परेशान होकर हमने कण्ट्रोल-रूम जाकर उसके नामकी कई बार घोषणा भी करायी। यही प्रक्रिया शम्भुनाथ भी करता रहा। रात्रि साढ़े दस बजेतक जब हम उसे न पा सके तो निराश होकर रामदेशिक संस्कृत-महाविद्यालय चले गये। प्रबन्धकको सारी कठिनाइयाँ बतलायीं। उन्होंने सचिन्त कठिनाइयाँ सुनीं तथा हमलोगोंके ठहरने और बिस्तर आदिकी उचित व्यवस्था कर दी।

हम अत्यन्त उदास और चिन्तित होकर भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे। हमारी चिन्ताका मुख्य कारण यह भी था कि लगभग साढ़े चार हजार रुपयेका सामान कुलियोंके सिरपर था। विपत्तिमें फँसे व्यक्तिकी परिस्थितिका असामाजिक तत्त्व लाभ उठाकर लूट या हत्यातक कर सकते थे। रातभर परेशान रहकर अन्तमें शम्भुनाथने पुल नं० ७ की चौकीपर जाकर सारा सामान जमा कर दिया। कुली भी परेशान होकर रातभर ढूँढ़ते रह गये। वे सब हमलोगोंके लिये विशेष चिन्तित थे। पुलिस-चौकीवालोंने पूरी सहायता की। सामानकी जिम्मेदारी पुलिसको सौंपकर शम्भुनाथ पता लगानेके लिये बनारस गया। उसके बनारस पहुँचनेपर परिवारके लोग स्थितिका अनुमान करके अधिक चिन्तातुर हो गये। हमलोगोंको सिवा भगवान्‌के कोई सहारा न था। हमें यह कल्पना भी न थी कि शम्भुनाथ पुलिसचौकीपर सामान जमा करके बनारस चला जायगा।

बनारससे हमारे सम्भावित ठहरनेके स्थानका पता लेकर वह दिनांक १६ जनवरीको लौटा। विद्यालयमें हमें सुरक्षित पाकर आनन्दातिरेकसे उसको अश्रुप्रवाह होने लगा। उसकी इस कर्तव्य-परायणता और निष्ठाकी बात जब वहाँ उपस्थित जन-समुदायने सुनी तो सब अभिभूत हो उठे। शम्भुनाथके धैर्य और कर्तव्यके प्रति सजगताकी सबने भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस विपत्तिसे त्राण दिलानेकी प्रभुकी महती कृपाके लिये हम श्रद्धाभिभूत हो बार-बार उनका मन-ही-मन गुण-गान कर रहे थे। मूलमें भगवान्‌के भरोसेके सिवा और क्या उपाय हो सकता है। सच है—

राम भरोसा राखि ले अपने जियके माहिं।
कारज सबै सँवारिहैं, बिगरे भी कछु नाहिं॥

श्रीशचन्द्र पाण्डेय

(४)

मुक्तिमें भी निष्कामता

मालवीयजीके देहावसानके पहले लोगोंमें फुस-फुस बात होने लगी कि मालवीयजीको काशीकी परिधिके भीतर ले जाया जाय; क्योंकि नगवा, जहाँ विश्वविद्यालय है, शास्त्रके अनुसार काशीकी परिधिके बाहर है, और वहाँ मरनेवालोंको मोक्ष नहीं होता। मालवीयजीको इस बातचीतका किसी तरह पता चल गया। उन्होंने बाबू ज्योतिभूषण गुप्तको बुलवाया। गुप्तजी स्वर्गीय राजा मोतीचन्दके उत्तराधिकारी हैं और उन दिनों विश्वविद्यालयके अवैतनिक कोषाध्यक्ष थे। मालवीयजी उन्हें अपने पुत्रके समान मानते थे और यज्ञोपवीतमें उन्होंने स्वयं उनको मन्त्र-दीक्षा दी थी। उनसे मालवीयजीने कहा—'देखो ज्योति! मुझे ये लोग काशी न ले जाने पावें। मैं अभी मोक्ष नहीं चाहता। मेरे काम अधूरे पड़े हैं। मुझे विश्वविद्यालय और देशकी सेवा करनी है।' बोलो, वचन देते हो कि तुम मेरे इस आदेशका पालन करोगे। ज्योतिभूषणजी हक्का-बक्का हो गये और वचन दे दिया तब मालवीयजीको शान्ति मिली। मुक्तिके प्रति यह निष्कामता कितनी उदात्त है।

श्रीब्रह्माजीद्वारा भगवान् श्रीरामकी स्तुति

भवान् नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः। एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्॥
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव। लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः॥
शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः। अजितः खड्गधृग् विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः॥
सेनानीर्ग्रामणीश्च त्वं बुद्धिः सत्त्वं क्षमा दमः। प्रभवश्चाप्ययश्च त्वमुपेन्द्रो मधुसूदनः॥
इन्द्रकर्मा महेन्द्रस्त्वं पद्मनाभो रणान्तकृत्। शरण्यं शरणं च त्वामाहुर्दिव्या महर्षयः॥
दिक्षु सर्वासु गगने पर्वतेषु नदीषु च। सहस्रचरणः श्रीमाञ्शतशीर्षः सहस्रदृक्॥
त्वं धारयसि भूतानि पृथिवीं सर्वपर्वतान्। अन्ते पृथिव्याः सलिले दृश्यसे त्वं महोरगः॥
त्रींल्लोकान् धारयन् राम देवगन्धर्वदानवान्। अहं ते हृदयं राम जिह्वा देवी सरस्वती॥
देवा रोमाणि गात्रेषु ब्रह्मणा निर्मिताः प्रभो। निमेषस्ते स्मृता रात्रिरुन्मेषो दिवसस्तथा॥
संस्कारास्त्वभवन् वेदा नैतदस्ति त्वया विना। जगत् सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम्॥
अग्निः कोपः प्रसादस्ते सोमः श्रीवत्सलक्षणः। त्वया लोकास्त्रयः क्रान्ताः पुरा स्वैर्विक्रमैस्त्रिभिः॥
महेन्द्रश्च कृतो राजा बलिं बद्ध्वा सुदारुणम्। सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः॥

'आप चक्र धारण करनेवाले सर्वसमर्थ श्रीमान् भगवान् नारायण देव हैं, एक दाढ़वाले पृथ्वीधारी वराह हैं तथा देवताओंके भूत एवं भावी शत्रुओंको जीतनेवाले हैं। रघुनन्दन! आप अविनाशी परब्रह्म हैं। सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें सत्यरूपसे विद्यमान हैं। आप ही लोकोंके परम धर्म हैं। आप ही विष्वक्सेन तथा चार भुजाधारी श्रीहरि हैं। आप ही शार्ङ्गधन्वा, हृषीकेश, अन्तर्यामी पुरुष और पुरुषोत्तम हैं। आप किसीसे पराजित नहीं होते। आप नन्दक नामक खड्ग धारण करनेवाले विष्णु एवं महाबली कृष्ण हैं। आप ही देव-सेनापति तथा गाँवोंके मुखिया अथवा नेता हैं। आप ही बुद्धि, सत्त्व, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह तथा सृष्टि एवं प्रलयके कारण हैं। आप ही उपेन्द्र (वामन) और मधुसूदन हैं। इन्द्रको भी उत्पन्न करनेवाले महेन्द्र और युद्धका अन्त करनेवाले शान्तस्वरूप पद्मनाभ भी आप ही हैं। दिव्य महर्षिगण आपको शरणदाता तथा शरणागतवत्सल बताते हैं। समस्त दिशाओंमें, आकाशमें, पर्वतोंमें और नदियोंमें भी आपकी ही सत्ता है। आपके सहस्रों चरण, सैकड़ों मस्तक और सहस्रों नेत्र हैं। आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंको, पृथ्वीको और समस्त पर्वतोंको धारण करते हैं। पृथ्वीकी अन्तिम छोरपर आप ही जलके ऊपर महान् सर्प—शेषनागके रूपमें दिखायी देते हैं। श्रीराम! आप ही तीनों लोकोंको तथा देवता, गन्धर्व और दानवोंको धारण करनेवाले विराट् पुरुष नारायण हैं। सबके हृदयमें रमण करनेवाले परमात्मन्! मैं ब्रह्मा आपका हृदय हूँ और देवी सरस्वती आपकी जिह्वा हैं। प्रभो! ब्रह्माने जिनकी सृष्टि की है, वे सब देवता आपके विराट् शरीरमें रोम हैं। आपके नेत्रोंका बंद होना रात्रि और खुलना ही दिन है। वेद आपके संस्कार हैं। आपके बिना इस जगत्का अस्तित्व नहीं है। सम्पूर्ण विश्व आपका शरीर है। पृथ्वी आपकी स्थिरता है। अग्नि आपका कोप है और चन्द्रमा प्रसन्नता है; वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न धारण करनेवाले भगवान् विष्णु आप ही हैं। पूर्वकालमें (वामनावतारके समय) आपने ही अपने तीन पगोंसे तीनों लोक नाप लिये थे। आपने अत्यन्त दारुण दैत्यराज बलिको बाँधकर इन्द्रको तीनों लोकोंका राजा बनाया था। सीता साक्षात् लक्ष्मी हैं और आप भगवान् विष्णु हैं। आप ही सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण एवं प्रजापति हैं।'

(श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण ६। ११७। १३–१७, २१–२७)

मुक्त (निष्काम) पुरुषके लक्षण

यः स्यादेकायने लीनस्तूष्णीं किंचिदचिन्तयन् । पूर्वं पूर्वं परित्यज्य स तीर्णो बन्धनाद् भवेत् ॥
सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः । व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान् मुच्यते नरः ॥
आत्मवत् सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः । अमानी निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः ॥
जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च । लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते ॥
न कस्यचित् स्पृहयते नावजानाति किंचन । निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः ॥
अनमित्रश्च निर्बन्धुरनपत्यश्च यः क्वचित् । त्यक्तधर्मार्थकामश्च निराकाङ्क्षी च मुच्यते ॥
नैव धर्मी न चाधर्मी पूर्वोपचितहायकः । धातुक्षयप्रशान्तात्मा निर्द्वन्द्वः स विमुच्यते ॥
अकर्मवान् विकाङ्क्षश्च पश्येज्जगदशाश्वतम् । अश्वत्थसदृशं नित्यं जन्ममृत्युजरायुतम् ॥
वैराग्यबुद्धिः सततमात्मदोषव्यपेक्षकः । आत्मबन्धविनिर्मोक्षं स करोत्यचिरादिव ॥

(महाभारत, अश्वमेधपर्व १९ । १–९)

'जो स्थूल-सूक्ष्मादि पूर्वपूर्व-प्रपञ्चका बाधकर किसी भी प्रकारका संकल्प-विकल्प न करते हुए मौनभावसे सम्पूर्ण प्रपञ्चके एकमात्र लयस्थान परब्रह्ममें समाहित है, उसने इस संसारबन्धनको पार कर लिया है । जो सबका सुहृद् है, सब कुछ सह लेता है, मनोनिग्रहमें अनुराग रखता है, जितेन्द्रिय है तथा भय और क्रोधसे रहित है, वह मनस्वी नरश्रेष्ठ संसारसे मुक्त हो जाता है । जो पवित्रात्मा मनको वशमें रखता हुआ समस्त भूतोंके प्रति अपने ही समान बर्ताव करता है तथा जिसमें मान और गर्वका लेश भी नहीं है, वह सब प्रकारसे मुक्त ही है । जो जीवन और मरणमें, सुख और दुःखमें, लाभ और हानिमें तथा प्रिय और अप्रियमें समभाव रखता है, वह मुक्त हो जाता है । जो किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता, किसीका तिरस्कार नहीं करता तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्व और रागसे रहित है, वह सर्वथा मुक्त ही है । जिसका कोई शत्रु या मित्र नहीं है, जो किसीको अपना पुत्रादि भी नहीं समझता, जिसने धर्म, अर्थ और इन्द्रिय-सुखका भी परित्याग कर दिया है, जिसे किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं है, वह मुक्त हो जाता है । जो धर्म-अधर्मसे परे है, जिसने पूर्वके संचितका त्याग कर दिया है, वासनाओंका क्षय हो जानेसे जिसका चित्त शान्त हो गया है तथा जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित है, वह मुक्त हो जाता है । जो कर्मकलापसे मुक्त है, पूर्णतया निष्काम है, संसारको अश्वत्थ (पीपल) वृक्षके समान अनित्य और सर्वथा जन्म-मृत्यु एवं जरादि दोषोंसे युक्त देखता है, जिसकी बुद्धि वैराग्यनिष्ठ है और जो निरन्तर अपने दोषोंपर दृष्टि रखता है, वह शीघ्र अपने समस्त बन्धनोंको तोड़ डालता है ।'